चिन्तन के क्षितिज पर



आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

चिन्तन के क्षितिज पर

श्री केशरीचन्दजी दूगड सादुलपुर (राजस्थान)
के सौजन्य से प्रकाशित

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)
मूल्य : पचीस रुपये / द्वितीय संस्करण, १९९५ / मुद्रक : पवन प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

CHINTAN KE KSHITIJ PAR by Muni Budnamalla Rs 25 00

प्राथमिकी

मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। जागृत अवस्था में तो वह चिन्तन करता ही है, स्वप्नावस्था मे भी करता है। बुद्धि उसके चिन्तन को सौष्ठव प्रदान करती है, विवेक गहराई, स्मृति स्थायित्व तो कल्पना नव-नव उन्मेष। इन सभी विशेषताओ से सपन्न मनुष्य जब चिन्तन के क्षेत्र को अपने आसपास तक ही सीमित रखता है तब वह अपने एव अपने से सबधित व्यक्तियो की समस्याओ तक ही सीमित रहता है, परन्तु जब उसके चिन्तन का क्षेत्र क्षितिज की दूरियो तक विस्तार पाता है तो उसके लिए हर विषय बहु-आयामी होकर बहुत-बहुत विस्तीर्ण हो जाता है। उस स्थिति मे उसके लिए बाह्य समस्याओ के समाधान की खोज गौण तथा आभ्यतर की मुख्य हो जाती है। अध्यात्म, धर्म, सस्कृति और समाजगत समस्याओ के समाधान चिन्तन के इसी बिन्दु पर अन्विष्य होते है।

प्रस्तुत पुस्तक का नाम उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य मे रखा गया है—**चिन्तन के क्षितिज पर**। इसमे मेरे उन लेखो का सकलन है, जो सामयिक आवश्यकताओ पर लिखे गए तथा दैनिक एव मासिक आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुए। इन्हे विभागीकरण के द्वारा व्यवस्थित एव सम्पादित करने का कार्य मुनि धनजयकुमारजी ने किया है। एतदर्थ उनके प्रति प्रमोद भावना व्यक्त करता हू। यदि वे इस ओर प्रवृत्त नही होते तो सभव है, लबे समय तक इन्हे पुस्तकाकार ग्रहण करने का अवसर उपलब्ध नही हो पाता।

विभिन्न सुगधो एव वर्णो के पुष्पो का अपना एक महत्त्व तथा उपयोग है फिर भी जब वे माला के रूप मे गुफित हो जाते है तब एकात्मकता के आधार पर उनका महत्त्व तथा उपयोग अधिकतर हो जाता है। मेरे इन प्रकीर्ण लेखो के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। जिज्ञासु जन इस उपक्रम से अवश्य ही लाभान्वित होगे तथा चिन्तन के क्षितिज पर उतर आने वाली समस्याओ का समाधान प्राप्त करेंगे, ऐसी आशा करता हू।

जैन विश्व भारती
लाडनू (राजस्थान)
२२ फरवरी १९९२

मुनि बुद्धमल्ल

अनुक्रम

विचार

दर्शन

चिन्तन : अनुचिन्तन

व्यक्ति

विचार

होकर लौट आते हैं, फिर भी सहस्रो-सहस्रो मे कोई एक तो सफलता पाता ही है। सफलता पाने वाले की पहले से कोई पृथक् पहचान नही होती, वह कोई भी हो सकता है। एक की सफलता सबकी सफलता के द्वार खोल देती है। उससे विश्वास जागता है कि वह सफल हुआ है तो मै भी हो सकता हू।

अपने हाथ, जगन्नाथ

जीवन के कार्यक्षेत्र मे प्राप्त की गई सफलता ही व्यक्ति के भविष्य का निर्माण करती है। दूसरे शब्दो मे इसे ही भाग्य का निर्माण भी कहते है। अपने भविष्य का निर्माण व्यक्ति को स्वय ही करना होता है। दूसरा जो कुछ प्राप्त करता है वह उसी की उपलब्धि होती है, अन्य किसी की नही, इसी तरह दूसरे की सफलता भी उसी की होती है, अन्य का उसमे कोई श्रेय नही होता। इसीलिए यहा जो कुछ भी पाना है, वह स्वय अपने ही हाथो से पाना है। 'अपने हाथ, जगन्नाथ' की कहावत इसी ओर सकेत करती है। **अय मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तर**— 'ये मेरे हाथ ही भगवान है, इतना ही नही, ये भगवान से भी बढकर है।'

उक्त कथन मे किसी प्रकार की अत्युक्ति नही होकर वास्तविकता का ही दिग्दर्शन कराया गया है। मनुष्य को जो कुछ भी बनना है, वह स्वय अपने द्वारा ही बनना है। इस क्षेत्र मे अन्य कोई मार्ग है ही नही। 'अपने द्वारा अपना निर्माण' यह शाश्वत सत्य है।

तीनो कालों मे

काल के तीन भेद किये जाते है—वर्तमान, भूत और भविष्य। इनमे केवल वर्तमान ही ऐसा है, जो विद्यमान होता है। शेष दो तो सदैव अनुपस्थित ही रहते है। इनमे एक भूतकाल है, जो बीत चुका होता है। दूसरा भविष्यकाल है, जो अभी तक अजन्मा ही है। ये दोनो उन अतिथियो के समान है, जिनमे से एक जा चुका है तो दूसरा आया ही नही है। फिर भी मनुष्य तीनो से सबध रखने के प्रयास मे लगा रहता है। वर्तमान को तो वह प्रतिक्षण भोग रहा होता है, परन्तु शेष दोनो के भोग मे भी चूकता नही।

समय के जिस मार्ग पर से अतीत मे वह गुजरा है, वह मार्ग तो समाप्त हो चुका है, दुबारा कभी उस पर से नही गुजरा जा सकता, परन्तु उस काल मे अर्जित सस्कार और अनुभव व्यक्ति की चेतना मे सगृहीत रह जाते है। वह समय समाप्त हो जाता है, पर वह चेतना सदा कायम रहती है। उसमे सचित सस्कार और अनुभव भी लम्बे समय तक स्मृतिकोश मे सुरक्षित रहते है। अपनी स्मृति के बल पर जब मनुष्य जुगाली करने बैठता है तो मानो वह अविद्यमान अतीत मे गुजर रहा होता है। प्रत्यक्ष भुक्त घटना को स्मृति के पर्दे पर बार-बार भोगता रहता है।

निर्भर है वर्तमान पर

भविष्य काल मे मनुष्य का प्रवेश होता है कल्पना के द्वारा। वह अपने असन्तोषो तथा असफलताओ के घाव भविष्य मे नही ले जाना चाहता, अत उन सबसे मुक्त भविष्य की कल्पना करता है। अतीत के अनुभवो से वह उन कल्पनागत सफलताओ को सजाता है। जब उन वायवी कल्पनाओ को मूर्त्त रूप देकर ठोस धरातल पर उतारने का समय उपस्थित होता है तभी व्यक्ति को वास्तविकता से आमने-सामने होना पडता है। उस समय उसका पुरुषार्थ जितना साथ देता है उतनी ही सफलता की सम्भावना रहती है। शेष सभी कल्पना-जगत् के महल ढह पडने को विवश होते है।

अतीत का अर्थ ही यह है कि जो बीत चुका है, मर चुका है। उसके विषय मे की गयी कोई चिन्ता कारगर नही हो सकती। भविष्य के विषय मे अवश्य कुछ सोचना आवश्यक होता है। वह उस गर्भस्थ भ्रूण की तरह है, जो कालान्तर मे शिशु बनकर हमारे बीच उपस्थित होने वाला होता है। परन्तु उसके लिए जो भी योजना बनती है, जो भी करणीय निर्धारित होता है, वह सब वर्तमान से ही सबद्ध होता है। इसलिए अन्तत सारा दारमदार वर्तमान पर निर्भर करता है।

वर्तमान जिसके हाथ मे होता है, भविष्य भी उसी के हाथ मे होता है। वर्तमान सुधरता है तभी भविष्य सुधरता है। ऐसा इसलिए होता है, क्योकि भविष्य को वर्तमान बनना ही पडता है। अतीत का कल अब कभी 'आज' नही बन पाता, परन्तु भविष्य के कल को तो 'आज' बनना ही होता है। इसीलिए आज को सुधारना एव सफल बनाना ही भविष्य को सुधारना और सफल बनाना है। यहा काल के आधार पर सुधार की जो बात कही जा रही है, वह उपचार मात्र ही है। वास्तव मे तो व्यक्ति को ही सुधरना होता है। व्यक्ति सुधरता है तभी उसका वर्तमान और भविष्य भी सुधरता है। सुधार से तात्पर्य है—व्यक्ति के गुणो का उत्तरोत्तर विकास।

सफलता के चार सूत्र

जीवन के विकास की अनन्त सम्भावनाएं हैं। सर्वोच्च आदर्श को लक्ष्य बनाकर चलना चाहिए, तभी विकास के शिखरो को छुआ जा सकता है। छोटा लक्ष्य बनाने वाले उस सीमा के दर्शन भी नही कर पाते। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति भी जब प्राप्ति-सीमा मे आ सकती है तो उनसे स्वल्प पर क्यो किसी को ठहरना चाहिए? पौछा देने की नौकरी खोजने निकलोगे तो राज-व्यवस्था का दायित्व नही सम्भलाया जा सकेगा।

विकास के लिए जितना ऊचा लक्ष्य बनाया जाता है, उसकी सफलता के लिए

उतनी ही उच्च कोटि की तैयारी भी उपेक्षित होती है। प्रत्येक सफलता मे निम्नोक्त चार सूत्र विशेष सहायक हो सकते है—

१ आस्था, २ आकाक्षा, ३. सकल्प और ४ पुरुषार्थ।

आस्था की धरती

सफलता की प्राप्ति के लिए जो सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व है, वह आस्था है। प्रत्येक सफलता का वीज आस्था की धरती पर ही वोया जा सकता है। अपने कर्त्तृत्व में आस्था नही हो तो व्यक्ति किसी भी कार्य को हाथ मे लेने से कतराने लगता है। अपनी क्षमता पर तो विश्वास हो, परन्तु कार्य के प्रति आस्था न हो अर्थात् उस कार्य को वह करने योग्य ही नही मानता हो तव भी वह उसे करने के लिए उद्यत नही होता। कर्त्तृत्व और कार्य—दोनो के प्रति आस्थावान् होने पर ही मनुष्य उसके लिए प्रस्तुत हो सकता है। इसीलिए विकास के अभियान मे सफलता का प्रथम पडाव आस्था की धरती पर ही किया जा सकता है।

उच्चतर की आकांक्षा

अधिकाश प्राणी यथास्थिति मे ही जी लेते है। कोई भी नयी आकाक्षा उनके मानस मे अगडाई लेकर खडी नही हो पाती। गाय, घोडा, कुत्ता आदि पशु सहस्रो-सहस्रो वर्षो से प्राय एक ही प्रकार का वधा-वधाया जीवन जीते है। उनके मन मे उच्चतर वनने की कोई आकाक्षा नही होती, तो कोई योजना भी नही। फलत कोई प्रगति भी नही होती। एक मात्र मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो यथास्थिति को कभी नही स्वीकारता। वह उसे वदल डालने को सदैव आतुर रहता है। जो प्राप्त है वह तो उमका होता ही है, अप्राप्त को प्राप्त करने मे भी उसकी उद्दाम अभिरुचि रहती है। अपने मामर्थ्य की आस्था उसमे उच्चतम वनने की आकाक्षा जगाती है। आस्था की धरती पर वोये गये सफलता के वीज आकाक्षा का जल मिलने पर ही अकुरित हो पाते है। आगम कहते है—उच्चतम वनने के मार्ग मे यदि ससार वाधक वनता है तो उमके विपरीत खडे होने मे भी मत हिचकिचाओ। **'पडिसोय मेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेण'** उच्चतम की आकाक्षा मनुष्य को मफलता के पथ पर आगे वढाती है।

पाने या खपाने का निर्णय

सफलता के लिए तीमरा सूत्र है—संकल्प। आकाक्षा एक चाह है। सकल्प है उसे पाने के लिए स्वय को खपा देने की तैयारी। सम्यक् दिशा मे लगा सकल्प ही मनुष्य को **'कार्यं वा साधयेयं, देहं वा पातयेय'** जैसा दृढ निश्चय प्रदान करता है। निश्चितता विहीन सकल्प सफलता के फलीभूत होने मे आधार-भूमि वनता है।

पुरुषार्थ नही हारता

आचाराग सूत्र मे भगवान् महावीर कहते है—**"पुरिसा परमचक्खू ! विपरिक्कमा"** चक्षुष्मान् पुरुष, तुम पराक्रम करो। कार्य की सफलता को पूर्णता प्रदान करने वाला पुरुषार्थ ही होता है। पूर्णमात्रा तथा सम्यक् दिशा मे लगे पुरुषार्थ के सम्मुख कभी असफलता टिक नही पाती। यदि कही असफलता मिलती है तो समझना चाहिए कि पुरुषार्थ की मात्रा बढाने की अपेक्षा है। पुरुषार्थ कभी नही हारता। विरोधी परिस्थितियो पर प्रहार कर विजय पाने वाला होता है।

सफलता के उक्त चारो सूत्र उत्तरोत्तर विकास मे साधक बनते है। इन्ही से मनुष्य का भविष्य-निर्माण होता है। इन चारो मे कोई भी दैवीय तत्त्व नही है। सब के सब मनुष्य द्वारा ही अनुष्ठानीय है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य का अपना भविष्य स्वय उसी के हाथ मे है। वह स्वय उसे बना भी सकता है, बिगाड भी सकता है। बिगाडने की बात तो कोई अज्ञानी ही सोच सकता है। सुज्ञानी तो भविष्य को बनाने या सुधारने मे ही अपनी शक्ति का नियोजन करता है। निर्माण ही मनुष्य की महत्ता का द्योतक है।

बौद्धिक वर्ग : सामाजिक दायित्व

आज ससार मे क्षेत्रीय, राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की अनेक ज्वलत समस्याए हैं जो कि चिन्तन की अपेक्षा रखती है। बुद्धिजीवी वर्ग उन समस्याओ का समाधान निकाल लेने के लिए पूर्णतः समर्थ है।

बुद्धिजीवियो का कर्तव्य

भारत एक विशाल और प्राचीन देश है। उसकी आन्तरिक एव बाह्य अनेक समस्याए है। बुद्धिजीवियो का कर्तव्य है कि उन समस्याओ को समाहित करने के लिए उपाय खोजे। यद्यपि बुद्धिजीवी समस्याओ को सुलझाने मे योग्य होते है, फिर भी इसका अर्थ यह नही कि प्रत्येक बुद्धिजीवी समस्याओ का निराकरण करके समाज का मार्गदर्शक बन सकता है या उसे सही रास्ते पर लगा सकता है। एक सर्वेक्षण का निष्कर्ष है कि सौ मे से केवल पाच ही व्यक्ति मार्गदर्शक बनने या नेतृत्व करने का सामर्थ्य रखते हैं। शेष सारे उनके पीछे-पीछे चलने वाले होते है। यही बात विद्रोह एव क्रान्ति करने वालो पर भी लागू होती है। मेरी यह बात भी आपको विचित्र लगेगी कि जो व्यक्ति जितना तेज सुधार कर सकते है, विपरीत होने पर वे उतना ही तेज बिगाड भी कर सकते है।

साक्षरा· राक्षसा·

वस्तुत सुधारने तथा बिगाडने की क्षमताए भिन्न नही होती, केवल उसके दिशा-परिवर्तन पर ही सारा भविष्य या व्यवस्थाए निर्भर करती है। पूर्व से पश्चिम की ओर मुड़ने मे केवल थोडे-से घुमाव की ही आवश्यकता होती है। उसी प्रकार सुधार या बिगाड मे लगा हुआ नेतृत्व थोडे-से परिवर्तन मे ही अपनी विपरीत दिशा मे सक्रिय हो सकता है। नीतिकारो ने कहा भी है—"साक्षराः विपरीताश्चेद् राक्षसा एव केवलम्" अर्थात् विद्वान् व्यक्ति विपरीत सोचने लग जाते है तो वे राक्षस से कम नही होते। अनुकूलता मे सोचने पर ही वे राष्ट्र के लिए हितकर

बनते है। श्लोककार ने 'साक्षरा' शब्द का प्रयोग भी ऐसा ही किया है, जो उलटा पढने पर 'राक्षसा' हो जाता है।

मस्तिष्क की सज्ञा

बुद्धिजीवी वर्ग समाज का महत्त्वपूर्ण एव निर्णायक अग होता है। उसे मस्तिष्क की सज्ञा दी जाती है। जैसे शरीर मे मस्तिष्क सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, वैसे ही समाज मे बुद्धिजीवी वर्ग है। यदि मस्तिष्क के अन्दर जरा-सी भी खराबी होती है तो सारी क्रियाए, व्यवस्थाए और व्यवहार गडबडा जाते है। व्यक्ति का पूरा व्यक्तित्व ही लडखडा जाता है। उसी प्रकार यदि बुद्धिजीवी वर्ग का चिन्तन सदोष होता है तो वह पूरे समाज तथा राष्ट्र की स्थिति को डावाडोल कर डालता है।

तथ्यो की गहराई मे जाए

बुद्धिजीवी सर्वगुण सम्पन्न ही होते है, ऐसी बात नही है, क्योकि वे वीतराग नही होते। वे भी भ्रान्त हो सकते है। मत-पक्ष और मत-भेद का आश्रयण कर सकते है फिर भी वे बौद्धिक है अत उनसे यह आशा की जा सकती है कि वे मूर्खो की तरह थप्पड-मुक्के की बात नही करेंगे, अपितु तथ्यो की गहराई मे जाकर उन पर सर्वतोमुखी चिन्तन करेगे। अवश्य ही उनके ऐसे चिन्तन का निष्कर्ष सुन्दर होगा। ही भी गया है 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध' अर्थात् पारस्परिक विचार-विमर्श से कहा तत्त्व का बोध होता है। बौद्धिक वर्ग जब किसी सामूहिक निर्णय पर पहुचता है तब स्वभावत ही जनता को करणीय-अकरणीय का ज्ञान हो जाता है।

सत्य के साथ सौदेबाजी न हो

बुद्धिजीवियो के सम्मुख यह आदर्श होना चाहिए कि वे सत्य के साथ कभी कोई सौदेबाजी नही करे। सत्य के लिए जहा स्वार्थ-त्याग की आवश्यकता हो वहा उन्हे उसके लिए तैयार रहना चाहिए। व्यक्ति ज्यो ही स्वार्थोन्मुख होता है, सत्य या आदर्श का लोप हो जाता है। भारतीय लोकसभा कक्ष मे एक श्लोक उद्धृत है—

> न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा,
> वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
> धर्म स न यो न हितावह स्याद्,
> हित न तद् यद् छलमभ्युपेतम् ॥

वह सभा वास्तविक सभा नही है, जिसमे वृद्ध व्यक्ति नही। वृद्ध से तात्पर्य अनुभव-वृद्ध एव ज्ञान-वृद्ध से है। आगे कहा गया है—वे वृद्ध भी वास्तविक वृद्ध नही है, जो धर्म एव कर्तव्य की बात नही कह सकते हो। उस धर्म को भी धर्म

नही कहा जा सकता, जो हितकारी न हो और हितकारी वही हो सकता है, जिसमे छल का प्रयोग नही किया गया हो। पचतत्र का यह श्लोक आदर्श का बोध देने वाला है।

देने की भाषा मे सोचें

अनेक बुद्धिजीवी कुठाग्रस्त होकर अपने कर्तव्य से उदासीन हो जाते है। वे सोचते है कि उनकी पूछ नही होती, समाज उनको उस स्तर का सम्मान नही देता, जिसके वे अधिकारी है। परन्तु उनका यह सोचना निर्दोप नही है। उन्हे तो लेने की भाषा मे न सोचकर देने की भाषा मे ही सोचना चाहिए। समाज ने तो उन्हे सब कुछ दिया ही है। सुरक्षा, सहयोग, सस्कार, भाषा, परिवार, व्यवहार आदि सभी तो समाज-प्रदत्त है। इसलिए समाज या राष्ट्र को वे क्या दे सकते है, यही सोचना उनके लिए उपयुक्त है।

स्वार्थ से ऊपर

स्वार्थ की बात तो प्राय सभी सोचते है परन्तु बौद्धिको को स्वार्थ से ऊपर उठकर सोचना चाहिए। व्यक्ति अपने स्वार्थो से ऊपर उठकर जब कोई कार्य करता है तो उसकी परिणति अवश्य ही मधुर फलदायक,होती है। हजारो देश-भक्तो ने हजार वर्षो की गुलामी से मुक्त होने के लिए जब सम्मिलित प्रयास किया तब उसमे भी बौद्धिक व्यक्तियो ने ही मार्गदर्शन किया था। उनके स्वार्थ-त्याग और बलिदान ने समग्र देश को बलिदान के लिए कटिवद्ध कर दिया। देश की स्वतत्रता उसी का परिणाम है। बलिदान देने वाले चले जाते है, पर उनका फल आगामी पीढिया भोगती हैं।

बौद्धिक वर्ग का दायित्व

बौद्धिक होकर भी यदि कोई ऐसा सोचता है कि मेरे श्रम या बलिदान का लाभ मुझे ही मिलना चाहिए, दूसरो को नही, तो उसकी बौद्धिकता सदोप मानी जाएगी। साधारण व्यक्ति भी जानता है कि आज हमे जो प्राप्त है उसमे बहुलाश पूर्वजो के श्रम का फल है।

एक शिक्षाप्रद कहानी है। एक वृद्ध व्यक्ति अपने उद्यान मे पौधे लगा रहा था। पास मे खडे दूसरे व्यक्ति ने कहा, 'तुम ८० वर्ष के हो चुके हो। ये पौधे फल देने योग्य होंगे तब तक तुम शायद ही जीवित रहोगे। तब फिर यह निरर्थक श्रम क्यो कर रहे हो?' वृद्ध ने कहा—मैं इनके फल न खा सका तो क्या हुआ? मेरे

पुत्र-पौत्र तो खा सकेंगे। आज जो आम मेरा परिवार खा रहा है, वे वृक्ष मेरे दादाजी ने लगाये थे।

वौद्धिक वर्ग का दायित्व है कि वह समाज एव राष्ट्र मे स्वस्थ वातावरण का निर्माण करे। उसमे स्वस्थ विचारो एव स्वस्थ कार्यो का निर्माण होगा। उसका असर भावी पीढी पर भी आएगा, इसमे सदेह नही। तभी आने वाला समाज अधिक सुन्दर एव सुसस्कृत हो पाएगा।

सामाजिक न्याय का विकास

मात्स्य न्याय

समाज एक समुद्र है और समुद्र के लिए एक कहावत चली आ रही है कि वहा 'मात्स्य न्याय प्रवर्तते' अर्थात् वडे मच्छ छोटे मच्छो को खा जाते है। मानव समाज के इस समुद्र मे भी प्राय यही न्याय चलता है। लगता है मानो इसी न्याय के आधार पर जीवन का सारा ढाचा खडा है। वहुत प्राचीन काल से यही क्रम चलता आया है कि जो शक्तिशाली, सत्तावान्, धन-कुवेर या प्रतिष्ठित होता है, वह दूसरो को खा जाता है, धूलिसात् कर देता है। कमजोर या निर्धन होना ही उसके लिए अभिशाप वन जाता है। पशु जगत् और वनस्पति जगत् मे भी वे जातिया समाप्त या समाप्तप्राय हो गई है, जो अपने प्रतिद्वन्द्वी से टक्कर नही ले सकें। इसलिए यहा वलवान्, सत्तावान् और धनवान् वनना परम आवश्यक वन गया है। जीवन की सारी भाग-दौड इसी मान्यता पर चलती है कि दूसरे को दवाकर अपनी उन्नति का आधार प्रशस्त किया जाए।

प्रश्न है सामाजिक न्याय का

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के पश्चात् भी जो सामाजिक न्याय की वात की जाती है, उसके पीछे एक ही कारण है कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। अपने विवेक और वुद्धि के वल पर उसने प्रकृति पर विजय पाई है। उसका वह क्रम आज भी तीव्र गति से चालू है। प्रकृति की अनेक घाटिया पार करने तथा उन्नति के अनेक आयाम खोल लेने के वाद भी सोचने के लिए यह प्रश्न रह ही जाता है कि सामाजिक विषमताओ एव समस्याओ को हल करने के लिए मनुष्य ने अभी तक उतना नही सोचा है जितना कि उसे सोचना चाहिए। यदि ऐसा किया जाता तो सामाजिक न्याय के आधार पर प्रत्येक मनुष्य को अपेक्षाकृत अधिक उन्नत, पवित्र एव विकसित वनाया जा सकता था। आज की यह प्रवलतम आवश्यकता है कि सामाजिक न्याय के विषय मे अधिक गम्भीरता से प्रयास किए जाए।

समाज और सरकार

न्याय अपने क्रम से चलता है, घटनाये अपने क्रम से होती है। उस स्थिति मे सोचना यह है कि उसमे क्या कुछ सुधार किया जा सकता है? जो भी सुधार अपेक्षित है, उसके लिए एक प्रकार का स्वस्थ वातावरण वनाया जाना चाहिए। सरकार सव कुछ कर देगी, यह सोचना गलत है। सरकार की अपेक्षा समाज का महत्त्व अधिक होता है। समाज जिस कार्य के लिए तैयार नही होता, सरकार उसके लिए कुछ नही कर सकती, परन्तु समाज जिस कार्य को चाहता हो, सरकार को वह उसके लिए वाध्य कर सकता है। पर इसका अर्थ यह नही है कि सरकार कुछ भी नही कर सकती। समाज की अपनी सीमा है, सरकार की अपनी। दोनो एक-दूसरे की पूरक वनकर सर्वोत्कृष्ट स्थिति मे होती है। दोनो को अपनी क्षमताओ का उपयोग एक-दूसरे के हित मे करना चाहिए। वह समाज या वह सरकार क्या कार्य कर सकती है, जिनका परस्पर एक-दूसरे को दवाने, नीचा दिखाने या मिटाने का खेल ही समाप्त नही होता। मनुष्यो की वहुत वडी कमजोरियो मे से एक यह है कि वह अपना कोई हित न होने पर भी दूसरे का अहित कर डालता है।

दूसरा आनंद क्यो भोगे ?

किसी गाव मे एक कुवडी वुढिया रहती थी। वच्चे उसका वहुत मजाक उडाया करते। इससे वह वहुत क्रुद्ध एव चिढी हुई थी। एक दिन मन्दिर मे पूजा करने गई तो देवी प्रसन्न होकर वोली—"वुढिया! वरदान माग ले।" वुढिया ने कहा—"जव आप इतनी प्रसन्न है तो यही वरदान दीजिए कि गाव वाले सारे कुवडे हो जाए।" देवी वोली—"अरे, यह क्या वरदान मागा? इससे तुझे क्या फायदा है?" वुढिया ने कहा—"मेरे फायदे की चिन्ता न करे। यदि आप को वरदान ही देना है तो यही दीजिए ताकि गाव वालो को पता लग जाए कि कुवडा होना कितना कष्टकारी है।" आज सम्पूर्ण समाज की स्थिति वुढिया जैसी हो गई है। जो यह मानकर चलता है कि मै तो दु ख मे हू सो हूं, पर अन्य व्यक्ति आनन्द क्यो भोग रहे है? जिस समाज के व्यक्तियो मे ऐसे सकुचित एव स्वार्थ-परक विचार होगे, उनसे समता और न्याय की आशा करना कठिन है। विशेषकर उन व्यक्तियो से तो और भी कठिन है, जो वलात् समाज पर छाए हुए है और अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद आदि सभी अस्त्रो का उपयोग कर लेते हैं।

सामाजिक न्याय प्रथम ईट

न्याय के विपय मे यदि यह सोचा जाता है कि वह नीचे वालो की ओर से विकसित होता हुआ ऊपर तक पहुचेगा तो यह कभी होने वाला नही है। नीचे वाले इतने

अशक्त हो चुके है कि वे कुछ करने की कल्पना तक भी नही कर सकते। वे कार्यान्वियन का साहस कैसे कर सकते है ? उनसे यदि सामाजिक न्याय की प्रथम ईंट वनने की आशा करे तो सारा चिंतन व्यर्थ जाएगा। वहुत वार देखा गया है कि निम्न जाति का आदमी सार्वजनिक कार्यक्रमो मे आगे आकर वडे आदमियो के वीच वैठने तक का साहस नही कर सकता। आता भी है तो कही दूर कोने मे ही वैठ जाता है। वरिष्ठ व्यक्तियो के सग रहने की तो वात वहुत दूर, वह उनके पास भी नही जा सकता।

वाधा है अस्पृश्यता

यद्यपि कानून कहता है कि अस्पृश्यता का व्यवहार दडनीय है, पर सामाजिक स्तर पर अस्पृश्यता यथावत् जमी हुई है। अस्पृश्यता की जो अनेक दु खद घटनाये मैंने अपनी आखो से देखी है, उनमे से एक घटना का उल्लेख करना चाहता हू। एक व्यक्ति तालाव के पास घडा लिए हुए वैठा था। वह तालाव से पानी ले जाने वालो से मिन्नते करके पानी माग रहा था। परन्तु कोई उसकी ओर ध्यान नही दे रहा था। मैंने स्थिति को समझने के लिए व्यक्ति से पूछा तो उसने वताया कि यह व्यक्ति अस्पृश्य जाति का है। अत तालाव से पानी लेने के योग्य नही है। जो व्यक्ति यहा से पानी ले जा रहे है, उनसे ही यह पानी की याचना करता है। यदि उनमे से किसी के मन मे दया आ जाएगी तो वह इसके वर्तन को भर देगा। मैंने सोचा, कौन व्यक्ति इसके वर्तन को भर देगा ? किसके मन मे करुणा आ जाएगी ? मेरे देखते-देखते वीस व्यक्ति पार हो गए। वह दया तो किसी के मन मे नही आई। अन्य आने वालो मे से किसी के मन मे दया आ भी जाएगी तो उस जाति का यह एक ही व्यक्ति तो नही है। इस जैसे अन्य भी हजारो व्यक्ति पानी को तरस रहे होंगे ? इस प्रकार का व्यवहार कर क्या समाज उसके साथ न्याय करता है ? यदि इस तरह का शोषित व्यक्ति न्यायालय की शरण मे जाता है तो न्याय की टेढी-मेढी गलियो मे कही का कही भटक जाता है।

विलवित और महगा न्याय

न्याय की पद्धति क्रमश विकसित हुई है, इसमे कोई सदेह नही। पर अब वह विकास ऐसी स्थिति मे पहुच गया है कि न्याय एक गोरख-धधा वन गया है। न्यायालयो मे प्रकरण चालू रखने के वाद न्याय मागने वाला गौण हो जाता है, फिर तो न्याय की अपनी प्रक्रिया ही प्रमुख रहती है। सिखा-सिखाकर दिलाई गई गवाहिया तथा वकीलो की लम्बी वहसे न्याय को एक ऐसा विकट जगल वना डालती है, जिससे पार पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। भटकते-भटकते जब वह उससे वाहर आता है तो वहुधा क्षत-विक्षत होकर ही आता है। लम्बा समय, प्रचुर

व्यय और शोषण की अनेक स्थितिया उसके परिवेश की चिदिया उडा डालती है। वहुत विलम्वित और वहुत व्यय-साध्य वह न्याय उसके लिए अन्याय से भिन्न नही होता। न्यायाधिकारी भले ही उसे विकास की प्रक्रिया का अनिवार्य अग मानकर सतुष्ट हो ले परन्तु साधारण जन इस भूल-भुलैया जैसी प्रक्रिया से परेशान है। इतना विलम्वित और महगा न्याय अपने विकास की नही, ह्रास की ही एक दु खात कहानी कहता प्रतीत होता है।

अंधा होता है न्याय

संस्कृत व्याकरण की समस्याओ को हल करने के लिए कुछ न्याय-सूत्र है। उनके प्रयोग की ओर सकेत करते हुए कहा गया है—'न्याया वृद्धयष्टि प्राया' अर्थात् ये न्याय वूढे की लडकी के समान है, आवश्यकता हो तभी टिकाओ, अन्यथा उठाए चलो। शायद न्याय की सर्वत्र यही दशा है। जहा लागू किया जाता है वहा वह वाल की भी खाल उधेड लेता है, अन्यथा घोडे वेचकर सोया रहता है।

न्याय एक प्रकार से अधा होता है, वह गवाहो के सहारे टटोलता हुआ आगे वढता है, उस टटोल मे मिले तथ्यो के आधार पर निर्णय करता है। पर तथ्य सदा ही सत्य नही होते। अनेक वार तो ऐसे वनावटी तथ्य प्रस्तुत किए जाते है कि सावधान से सावधान न्यायाधीश भी चक्कर खा जाता है। तथ्य सत्य से कितने दूर हो सकते है, इसके लिए एक घटना की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूगा।

तथ्य और सत्य

एक किसान का युवक पुत्र मध्याह्न के समय भोजन करने के लिए घर आया। वहुत तेज भूख लगी हुई थी। उसकी मा कही वाहर गई हुई थी। उसने रसोई घर मे प्रवेश किया तो देखा कि अन्य भोजन सामग्री के साथ खीर वनाई हुई है। उसने अन्य सामग्री तो ज्यो की त्यो छोड दी, केवल खीर ही खाई। खीर समाप्त होने पर उसने सोचा कि अव इस चोरी मे कैसे वचा जाए? उसने एक उपाय सोचा और अपनी पालतू विल्ली को रसोई मे ले आया। उसके मुह तथा पजो पर वची-खुची खीर लगाकर उसे छोड दिया। रसोई घर मे वाहर तक पजो के निशान वनाती हुई विल्ली चली गई। युवक निश्चित होकर सो गया। थोडी देर वाद युवक के माता-पिता भी घर पर आ गए। भोजन करने के लिए वैठे तव किसान को पता चला कि खीर का वरतन खाली है और रसोई घर से विल्ली के पजो के निशान है। इन तथ्य के आधार पर निष्कर्ष निकालने मे उन्हे देर न लगी। क्रुद्ध किसान ने आव देखा न ताव, पास मे पडी कुल्हाडी विल्ली पर दे मारी, वह वही पर ढेर हो गई। किसान का वेटा देख रहा था कि अकाट्य तथ्य के आधार पर वेचारी विल्ली मारी गई।

न्याय प्रक्रिया बदले

न्यायालय मे बहुत बार इसी प्रकार के बनावटी तथ्य प्रस्तुत होते रहते है। उनके आधार पर अन्यायी साफ बच जाते है और भोले पछी फस जाते है। मेरे इस कथन का यह तात्पर्य नही है कि इसमे न्यायाधीशो का ही दोष है, उन्हे दोषी इसलिए नही ठहराया जा सकता क्योकि वे जन-मान्य एक सविधान के आधार पर वैसा करने को बाध्य होते है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि हर सविधान मानव-जाति के लाभ और उन्नति के लिए होता है। जब वह युगानुकूल आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे अक्षम होने लगता है तब उसमे यथावश्यक परिवर्तन किया जाना आवश्यक होता ही है। लगता है, न्याय-प्रक्रिया को बदलना आज न्याय को सर्वसुलभ बनाने के लिए नितान्त अपेक्षित है।

अपराध का कारण

न्याय की चर्चा करते समय उन बिंदुओ पर भी सोचना आवश्यक है, जिनमे बाध्य होकर किसी व्यक्ति को दोष करना पडता है। व्यक्ति के दोषी बनने का सबसे बडा कारण गरीबी है। एक युवक ने कुछ दोष किया। उस पर मुकद्दमा चला। अभियुक्त ने न्यायालय मे अपना अपराध स्वीकार कर लिया। उसने अपनी विवशता व्यक्त करते हुए बतलाया—उसका परिवार तीन दिनो से बिलकुल भूखा था इसलिए उसने अमुक दुकान से कुछ डबल रोटिया चुराई थी।

न्यायाधीश ने अपराधी को अर्थ-दण्ड दिया और तत्काल दड की अर्थ-राशि अपनी जेब मे निकाल कर मेज पर रखते हुए कहा—यह रही तुम्हारी दण्ड-राशि। साथ ही न्यायाधीश ने वहा उपस्थित सभी व्यक्तियो को अपराधी बतलाते हुए कहा—केवल अभियुक्त ही नही, हम सब भी अपराधी है। क्योकि हम ऐसे समाज मे रह रहे है जहा व्यक्ति को भोजन के लिए चोरी करनी पडती है।

सामाजिक न्याय · विकास की दिशा

न्याय विषयक चिंतन करते समय हमे उन व्यक्तियो की पीडा को भी अच्छी तरह से समझना होगा, जो शोषित है, पीडित हैं, अधिकार-विहीन है और विवशता मे पतन के गर्त मे फसे हुए है। ऐसे ही कुछ बिन्दु है, जहा सामाजिक न्याय का ह्रास अपनी चरम सीमा तक पहुचा हुआ प्रतीत होता है। अपेक्षा है—उनका मुख विकास की दिशा मे मोड दिया जाए। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के इतने वर्षों के बाद भी अभी तक उसका मुख उद्दिष्ट दिशा की ओर मुडा नही है। उसके लिए यो तो पूरा समाज ही दोषी माना जाएगा परन्तु मुख्यत उसका दोष उन पर है, जो अधिकार-पूर्ण उच्चासनो पर स्थित है। चींटी की चाल से चलने वाला सुधार कब मंजिल तक

पहुचेगा, इस पर तो प्रश्नचिह्न ही लगा हुआ है। फिर भी आशा करनी चाहिए कि चिरकाल से सुप्त सामाजिक चेतना का पुनर्जागरण होगा, प्रगति के कुठित पैरो मे पुन गतिमत्ता की स्फुरणा आयेगी, वैषम्य की चक्की मे पिसते निर्बलतम नागरिक को भी न्याय की तुला पर निष्पक्ष एव त्वरित न्याय मिलेगा। अवश्य ही सघन तिमिर के साम्राज्य को बिखेरता हुआ नवोदित प्रभात का वह समय सबके लिए कल्याणकारी होगा।

विकास के पथ पर

प्रस्फोट आवश्यक

हम चेतन है, परन्तु हमारी चेतना पूर्ण विकास की स्थिति मे नही है। वह अनन्तानन्त काल से पूर्वार्जित कर्मो तथा सस्कारो से आवृत है। उसे अनावृत करना है। आवृत से अनावृत की ओर सतत गति करने का नाम ही विकास है। बीज वृक्ष बनता है, कली फूल बनती है और मजरी फल का रूप ग्रहण करती है, तो यह सब विकास के ही कारण फलित होता है। हमे विकास का मार्ग खोजना है। दूसरे की खोज हमारे काम आने वाली नही है, क्योकि हमारा विकास बाहर से आने वाला नही है, वह तो हमारे ही अन्दर घटित होने वाली एक प्रक्रिया है। प्रत्येक बीज को स्वय के प्रस्फोट मे से गुजरकर ही वृक्ष बनना होता है, प्रत्येक कली को स्वय फूटकर ही फूल बनना पडता है और प्रत्येक मजरी को स्वय ही रूपान्तरो की मजिल तय करके फल बनना होता है। दूसरे बीज, दूसरी कली और दूसरी मजरी की विकास-प्रक्रिया उसके किसी काम नही आती। पिता का धन या ऋण तो पुत्र को प्राप्त हो सकता है, पर उसका विकास उसे नही मिल सकता। उसे तो स्वय को प्रस्फुटित करके ही पाया जा सकता है।

तीन गुण

विकास का मार्ग बहुत लम्बा होता है। पूर्णता की मजिल तक पहुचने से पूर्व विकास-क्रम की अनेक प्रक्रियाओ मे से गुजरना पडता है। मार्गस्थ घाटियो की तरह अनेक घुमावो तथा अनेक उतार-चढावो को पार करना होता है। भटक जाने का भय भी बना ही रहता है। ऐसी स्थिति मे विकास-मार्ग पर चरण-न्यास करने वाले के लिए तीन गुण विशेष सहायक होते है—

१ श्रद्धा
२ साहस
३ धैर्य

अपने पर विश्वास

श्रद्धा से तात्पर्य है—विश्वास, अपने आप पर विश्वास तथा अपने विकास की अनन्त सम्भावनाओ पर विश्वास। इसके अभाव मे विकास के लिए कुछ सोचा ही नही जा सकता। आत्म-विश्वास के साथ आत्म-विकास का सीधा सम्बन्ध है। जितना गहरा विश्वास होगा, विकास उतना ही तेज होगा। आत्म-विश्वास के डगमगाते चरणो से आत्म-विकास के दुर्जेय शिखरो पर आरोहण नही किया जा सकता। आत्म-विकास की बात तो बहुत दूर है, सामान्य कार्यो की सफलता भी उसके अभाव मे असम्भव हो जाती है। आपने कभी तार पर साइकिल दौडाते हुए व्यक्ति को देखा हो, तो अवश्य ही जानते होगे कि वह कितनी सफाई से दौडता हुआ निकल जाता है। इसके विरुद्ध ऐसा दृश्य भी बहुधा देखने को मिल जाता है, जब सीधी और चौडी सडक पर भी व्यक्ति लडखडाकर साइकिल से गिर पडता है। प्रथम आत्म-विश्वास का और द्वितीय उसके अभाव का उदाहरण कहा जा सकता है।

मैं किसी अन्य व्यक्ति पर विश्वास करने के विषय मे नही कह रहा हूं, स्वय अपने पर विश्वास करने को कह रहा हू। अन्य पर विश्वास करना द्वितीय कोटि का है। प्रथम कोटि का कार्य तो स्वय पर विश्वास करना है। अन्य पर विश्वास करना सरल है, अपने पर कठिन। इसका कारण है, अन्य पर विश्वास करना हो, तब केवल मान लेने मे कार्य चल सकता है, परन्तु अपने पर विश्वास करना हो, तब मानने मे बिलकुल कार्य नही चलता। वहा तो पहले जान लेना होता है। मान लेना बहुत सरल है, जान लेना कठिन। हम भयवश दुष्ट व्यक्ति को भी सज्जन मान सकते है, वाणी से स्वीकार भी कर सकते है, फिर भी अन्तरग मे जानते वैसा ही है, जैसा कि वह है। उसकी सज्जनता पर हमें कोई विश्वास नही हो जाता। मानने मे औपचारिकता चल सकती है, जानने मे नही। उसका सम्बन्ध सीधा, वास्तविकता से ही होता है। इसीलिए आत्म-विश्वास आज की परिस्थितियो मे कठिन कार्य हो गया है। उसके अभाव मे आत्म-विकास का द्वार खुल ही नही सकता। पूर्ण चेतना के महल मे प्रविष्ट होने के लिए आवश्यक है कि आत्म-विकास का द्वार खुले और वह तब खुलता है, जबकि व्यक्ति आत्म-विश्वासी हो, श्रद्धाशील हो।

खतरा उठाने का साहस

दूसरा गुण है साहस। नयी तथा अपरिचित स्थितियो मे प्रवेश साहस के बल पर ही किया जा सकता है। साहसहीन व्यक्ति जैसा है, जहा है, उसी मे सन्तुष्ट रह लेता है, पर साहसी अपने विकास के नये आयामो मे प्रविष्ट होता है, मार्ग की

बाधाओ का सामना करता है और लक्ष्य-प्राप्ति के लिए 'करूगा, अन्यथा मरूगा' की दृढ-प्रतिज्ञा लेकर चलता है। विकास का मार्ग अपरिचित मे प्रवेश का मार्ग है। बिलकुल अज्ञात, अकल्पित स्थितियो मे से गुजरना होता है। मन भयभीत होने लगता है कि न जाने आगे क्या होगा, कैसा होगा ? उस समय साहस ही उसके कान मे मत्र फूकता हे कि खतरा उठाना ही श्रेयस्कर है। बिना खतरा उठाये कभी कोई विकास सम्भव नही होता। बीज यदि अपने प्रथम प्रस्फोट पर ही घबराकर विरत हो जाए तो कभी वृक्ष बन ही न पाये।

हर व्यक्ति लक्ष्य तो प्राय ऊचा ही बनाता है, मन कल्पना के क्षेत्र मे कोई किसी से नीचे स्तर का रहना नही चाहता, परन्तु उस तक पहुचने मे बहुत-सी कठिनाइयो का सामना करना पडता है। यह एक प्रकार का रण-क्षेत्र है। साहस के बिना उसमे प्रवेश का भी खतरा उठाया नही जा सकता। विजय की तो फिर बात ही बहुत दूर रह जाती है। प्रबल साहसी ही वहा पग रोपकर खडा रह सकता है, शेष सब भाग खडे होते है। इसीलिए मेरा मानना है कि पूर्ण विकास के लिए आत्म-विश्वास के साथ साहस का योग होना अत्यन्त आवश्यक है।

मार्ग का स्वय निर्माण

रेल के लिए पटरी बिछी हुई होती है, मोटर आदि अन्य वाहनो के लिए सडकें है, मार्ग है, पगडडिया है, वे उन पर सरपट दौडते चले जा सकते है, परन्तु आत्म-विकास के लिए कोई पूर्व निर्मित पटरी, सडक, मार्ग या पगडडी नही हो सकती। प्रत्येक को स्वय ही अपना मार्ग बनाना होता है। किसी अन्य का मार्ग अपने लिए उपयोगी नही हो सकता। इसमे कारण है। प्रत्येक व्यक्ति के सस्कार, स्वभाव तथा आवरण भिन्न-भिन्न है, अत उनके रूपान्तरण तथा विलय के मार्ग भी भिन्न प्रकार के ही होगे। उनमे क्वचित् समानता परिलक्षित हो सकती है, परन्तु पूर्ण समानता कभी नही होती। नीतिकार ने कहा है—

लीक-लीक गाडी चलै, लीक ही चलै कपूत।
लीक छोड तीनू चलै, शायर, सिह सपूत॥

बधी-बधाई लीक पर या तो गाडी चलती है या फिर कपूत चलता है, क्योकि रूढ लीको—परिपाटियो को बदल डालने का उनमे कोई साहस नही होता। नदी, सिह और सपूत तो पुरानी लीक को छोडकर अपना मार्ग स्वय बनाते है। उसमे पुराने मार्ग का भी कुछ भाग आ सकता है, पर वह अपने विवेक के निर्णय मे ही आता है, पुराना है—इसलिए नही। पुराने का परित्याग और नये का निर्माण दोनो ही साहस की अपेक्षा रखते है। उसके बिना आज तक कोई भी विकास सम्भव नही हो पाया है, आगे भी नही हो पायेगा।

धैर्य की आवश्यकता

तीसरा गुण है धैर्य। श्रद्धा और साहस के पश्चात् भी विकास के अन्तिम शिखर तक पहुचने के लिए धैर्य की महती आवश्यकता रहती है। मार्ग की प्रलम्बता तथा चढाई की दुरूहता मन को कभी भी अधीर बना सकती है। जब व्यक्ति सफलता के एकदम समीप पहुचकर भी यह सोचकर निराश वापस लौट पडता है कि न जाने अभी कितना चलना और शेष है?

कोई पत्थर यदि हथौडे की दसवी चोट से टूटने वाला है तो यह असम्भव नही कि कभी हम थककर नौवी चोट देकर ही हथौडा फेंक दे और कहे कि मेरे से यह टूटने वाला नही है। हमारी अधीरता हमे केवल एक चोट के लिए असफल बना देती है।

स्वर्ण भण्डार

पूर्ण सफलता तक डटे रहने का धैर्य जुटा पाना बडा कठिन कार्य है। कोई-कोई ही ऐसा कर पाते है। अमेरिका के कोलरेडो क्षेत्र मे स्वर्ण की खदाने मिलने का पहले-पहल पता चला, तब अनेक धनिको ने वहा भूमि खरीदी और स्वर्ण निकालने लगे। एक करोडपति ने तो ऐसा साहस किया कि अपनी पूरी पूजी ही उस कार्य मे लगा दी। उसने एक पूरा पहाड ही खरीद लिया। बडा क्षेत्र था और बडी पूजी लगाई गई थी तो यत्र भी नये और बडे लगाये गये। कार्य प्रारम्भ हुआ। काफी नीचे तक खुदाई की गई, पर स्वर्ण का कही कोई पता नही चला। धनिक को बडी घबराहट हुई। पूरी पूजी डूब जाने की स्थिति सामने थी। आखिर उसने यत्रो-सहित पूरे पहाड को बेचने का विज्ञापन निकाल दिया। घरवालो ने कहा—"अब उसे कौन खरीदेगा? सबको पता लग चुका है कि उस पहाड मे कही स्वर्ण नही है।" धनिक को फिर भी आशा थी कि शायद किसी के सिर पर मेरी ही तरह स्वर्ण का भूत सवार हो और वह खरीद ले। उसकी आशा सत्य निकली। एक व्यक्ति ने अगले ही दिन उसे खरीद लिया। बन्द पडी खुदाई यथाशीघ्र पुन चालू की गयी। पहले ही दिन केवल एक फुट भूमि और खोदने पर प्रचुर मात्रा मे स्वर्ण निकल आया।

विक्रेता धनिक को जब ये समाचार ज्ञात हुए तो वह उससे मिलने गया और बोला—"तुम बडे भाग्यशाली निकले। मुझे तो मेरे दुर्भाग्य ने धोखा ही दिया।"

उस व्यक्ति ने कहा—"नही, मित्र। यह दुर्भाग्य का नही, अधैर्य का फल है। यदि तुम थोडा धैर्य और रख पाते तथा खुदाई को मात्र एक फुट और आगे बढा लेते तो यह सारा स्वर्ण-भण्डार तुम्हारा होता।"

विकास-त्रयी

धैर्य के अभाव मे ऐसी असफलता का शिकार कोई भी हो सकता है। अपने ही अन्दर अवस्थित विकास का स्वर्ण-भण्डार केवल एक फुट की दूरी पर रह जाता है और हम धैर्य के अभाव मे सफलता के द्वार तक पहुचकर खाली हाथ वापस लौट आते है। इसीलिए कहा जा सकता है कि विकास की पूर्णता की ओर बढने वाले मनुष्य को तीनो गुणो की नितान्त अपेक्षा है। एक का भी अभाव गति को कुठित कर देता है। श्रद्धा हमारे मे योग्यता का विकास जगाती है, साहस विघ्नो की छाती चीरकर आगे बढाने मे सहायता देता है और धैर्य अन्तिम शिखर पर पूर्ण विजय का ध्वज फहराने तक डटे रहने मे सहायक होता है।

चरित्र-विकास

चरित्र क्या है ?

ससार मे यदि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कुछ है तो वह चरित्र-बल है। चरित्र का विकास ही देश की गरिमा को व्यक्त करता है। ऐसा कभी नही हुआ कि चरित्र-विकास के बिना ही किसी समाज तथा देश ने कभी कोई महत्ता अर्जित की हो। चरित्र, सदाचार, नैतिकता या प्रामाणिकता ही वह महान् आधार है, जिस पर कोई भी विकास खडा होता है। सद्विचार और सदाचार का समन्वित रूप ही चरित्र होता है। सद्विचार-शून्य अथवा सदाचार-शून्य व्यक्ति की चरित्रवत्ता पूर्ण नही कही जा सकती। वस्तुत वह चरित्रवत्ता होती ही नही।

शरीर के ऊर्ध्वाग और अधोग की ही तरह चरित्र के ये परस्परापेक्षी दो अग कहे जा सकते है। सद्विचार को चरित्र का मस्तिष्क कहा जाए तो सदाचार को पैर कह सकते है। किसी भी एक के अभाव मे दूसरे की मौलिकता नही रह जाती। विकलाग की तरह वे अधूरे और निरुपयोगी हो जाते ह।

प्रथमावरत्व

'आचार प्रथमो धर्म' इस आर्ष वाक्य मे आचार को मनुष्य का प्रथम धर्म कहा गया है। इसी प्रकार जैनागमो मे **'आयारे निच्च पडिया'** इस वाक्य मे यही जताया है कि साधु पुरुष वही है, जो आचार मे निरन्तर जागरूक होता है। किन्तु इन सब कथनो का यह अर्थ कदापि नही है कि वह विचार-रिक्त होता है। मूल बात तो यह है कि आचार के महल के लिए विचार की नीव सदैव अपेक्षित रही है। बिना नीव का महल टिक नही सकता। हर आचार को विचार के प्रकाश मे ही आगे बढने का मार्ग मिलता है तो हर विचार को आचार की अग्नि-परीक्षा देने पर ही मान्यता प्राप्त होती है। इनमे एक के बाद दूसरे का महत्त्व चक्राकार कहा जा सकता है। किसी एक को प्रथम या अवर नही कहा जा सकता। अपेक्षा-भेद से दोनो ही प्रथम या दोनो ही अवर होते है।

विचारधारा और आचार

कहा जाता है कि व्यक्ति का जीवन उसके चिन्तन के अनुरूप ही बनता है। जैसी विचारधारा होती है, वैसे ही आचार मे मनुष्य ढलता चला जाता है। हर आचार के पूर्व मे विचार की शक्ति काम करती रहती है। विचार मजबूत हो तो व्यक्ति का जीवन मजबूत बन जाता है। विचार शिथिल और निर्बल हो तो जीवन भी निर्बल और शिथिल ही रहता है। मनोवैज्ञानिक तो यहा तक कहते हैं कि अधिकाश शारीरिक विकार या रोग भी विचार की ही उपज हैं। वस्तुत विचारो की सबल जडे जब पोष प्रदान करती हैं, तभी आचार का वृक्ष फलता-फूलता है।

समन्वित शक्ति

विद्युत् ऋण शक्ति और धन शक्ति का समन्वित रूप है। दोनो मिलकर ही प्रकाश करती है। उसी प्रकार विचार और आचार भी समन्वित होते हैं, तभी जीवन प्रकाशमय बनता है। कोरा विचार पगु होता है तो कोरा आचार अधा। घर मे लगी आग से न पगु बच सकता है और न अधा, किन्तु वे दोनो मिलकर समन्वित प्रयास करे तो बच सकते है। दूध के गुण धर्मो का विचार नही करने वाला किसी अन्य तद्रूप वस्तु को भी दूध मान सकता है, परन्तु उससे दूध का लाभ प्राप्त नही हो सकता। इसी तरह केवल दूध के गुण-धर्मो को जान लेने वाले को भी तब तक उससे कोई शक्ति नही मिल पाती, जब तक कि वह उसे पी नही लेता। मजिल तक पहुचने के लिए उसे जानना तथा उसकी ओर चलते जाना—दोनो ही समान रूप से आवश्यक होते है। इन सभी उदाहरणो का निष्कर्ष एक ही है कि विचार और आचार की समन्वित शक्ति ही मनुष्य को उन्नति की ओर ले जा सकती है।

उन्नति की प्रक्रिया

वर्तमान युग मे मनुष्य का चिन्तन बहुत आगे बढा है। एतद्विषयक उसकी शक्ति तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर हुई है, किन्तु उसका क्रिया-पक्ष काफी पिछड गया है। यही कारण है कि उसके सम्मुख आज अनेक समस्याएं सिर उठा रही है। क्रिया-पक्ष के पिछडेपन को मिटाना है तो प्रत्येक सुविचार को आचार मे परिणत करने की तैयारी करनी होगी। उनकी परस्पर अत्यधिक दूरी ही समस्याओ का समाधान नही होने देती। सुविचारो की पृष्ठ-भूमि पर आचार को आगे बढाने का उपक्रम करना, उन दोनो का सामजस्य बिठाना युग की आवश्यकता है। विचार आचार मे ढले और फिर आचार नये विचार के बीज उत्पन्न करे, यही उन्नति की

प्रक्रिया है। इसका अवरोध उन्नति का अवरोध होता है, वस्तुत. वह जीवन का ही अवरोध होता है।

वास्तविक दृष्टिकोण

कुछ लोगो का चिन्तन है कि इस प्रक्रिया से कुछ सुधार हो सकता है, परन्तु दो-चार या फिर दस-बीस व्यक्तियो के सुधर जाने मे कोई समाज थोडे ही सुधर जाता है ? समाज के सुधरे विना उन कुछ व्यक्तियो से क्या होना-जाना है ? करोडो लोग जब विपरीत मार्ग पर चल रहे है, तव थोडे से लोग ठीक मार्ग पर चलते हुए भी दु ख ही उठा सकते है। परन्तु यह चिन्तन परिपूर्ण नही है, क्योकि समाज कोई वास्तविक वस्तु नही है। वह तो व्यक्तियो की ही सामष्टिक अवस्था का नाम हे, अत व्यक्ति के सुधरे विना वह सुधर ही नही सकता। सन्मार्ग पर चलते हुए यदि कुछ व्यक्तियो को कष्ट उठाने पडते है तो वे उन्हे सहर्ष उठाने चाहिए। वह उनकी कसौटी मानी जायेगी। उससे उनका व्यक्तित्व और अधिक निखरेगा तथा अन्य व्यक्तियो को उससे मार्ग-दर्शन एव साहस मिलेगा। वास्तविक दृष्टिकोण मे व्यक्ति-सुधार ही विश्व-सुधार की भूमिका है। भूमि के एक-एक खण्ड को उपजाऊ वनाया जाए, तभी वहुत सारा क्षेत्र उपज के योग्य वनता हे। उस समय यह सोचकर कार्यविरत हो जाना उचित नही कि सारी भूमि तो उपजाऊ वनने से रही, फिर इस थोडी-सी को उपजाऊ वनाने से क्या लाभ ? ऐसा करने वाले स्वय तो भूखो मरते ही है, समाज को भी भूखा मार देते है।

गर्वोक्ति नही, वस्तुस्थिति

भारत की नैतिकता पूर्व काल मे वहुत ऊची रही है। यह हम विदेशी यात्रियो द्वारा भारत के विपय मे लिखित पुस्तको मे भलीभाति जान सकते है। उन्होने अपने यात्रा-सस्मरणो मे लिखा हे कि भारत एक महान् देश है। उसका चरित्र वहुत उज्ज्वल है। वहा के लोग चोरी नही करते। समान से भरी दुकानो पर भी ताला लगाने की कभी आवश्यकता नही होती, क्योकि कोई किसी की वस्तु को नही उठाता। ये उल्लेख दूर से आने वाले उन यात्रियो ने किये है, जो वर्षो तक भारत मे रहकर अपने देश मे लौट गये थे। अपनी उस महत्ता से स्वय भारतवासी भी कोई अपरिचित नही थे। वे उसे अच्छी तरह से जानते थे। तभी तो स्मृतिकार महर्षि मनु ने कहा—

> **एतद्देश प्रसूतस्य, सकाशादग्रजन्मन ।**
> **स्व स्व चरित्र शिक्षेरन्, पृथिव्या सर्वमानवा. ॥**

यदि कोई चरित्र की शिक्षा लेना चाहे तो वह भारत के मनीपियो मे ले। इस उक्ति से वहुत लोगो को लग सकता है कि यह तो गर्वोक्ति है, किन्तु जब इन्ही

वातो का उल्लेख दूर से आगत यात्रियो ने किया है तो निस्सन्देह कहा जा सकता हे कि यह गर्वोक्ति नही, किन्तु वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन है। आज लोग इसे इसलिए अतिशयोक्ति या गर्वोक्ति मान बैठते है, क्योकि वर्तमान की भारतीय जीवन-पद्धति अत्यन्त अस्त-व्यस्त हो चुकी है।

आज की स्थिति

पूर्व स्थिति से आज की स्थिति सर्वथा भिन्न प्रतीत होती है। आज समाज मे सदाचार के प्रति उतनी जागरूकता नही है, जितनी पहले थी। दुराचार पर पहले की ज्यो आज निर्भीक अगुली नही उठाई जा सकती, क्योकि प्राय सर्वत्र उसके भी समर्थक मिलने लगे ह। आदर्शो के प्राचीन मानदड वदल गये है तथा वदलते जा रहे है। सत्य-निष्ठा के चरण डगमगाए हैं और स्खलित भी हुए है। इस स्खलना के अनेक कारणो मे से एक कारण भारत की परतत्रता भी वनी है। सैकडो वर्षो तक भारतीय जनता दूसरो के शासन मे रही। फलस्वरूप वह अपनी सस्कृति को भूलने लगी और उसमे चारित्रिक ह्रास होने लगा। शताब्दियो के पश्चात् जनता ने अनेक वलिदानो के आधार पर स्वतत्रता प्राप्त की हे। अव उसे अपनी सस्कृति और चरित्रवल को पुन सुधारना है, उन्हे विकासोन्मुख करना है। सस्कृति को जन-मानस मे पुन प्रतिष्ठित करने के लिए सदाचार की अवरुद्ध सुर-सरिता को प्रवाहित करना होगा, जनता के सोये पौरुष को जगाकर उसे कर्त्तव्य-वोध देना होगा।

घसीटा वनाम शेर सिह

समाज मे सदाचार की प्रतिष्ठा कोई कठिन कार्य नही हे। उसमे व्यक्ति को जरा-सा अपना दृष्टिकोण वदलना पडता है। वह जव स्वरूप और स्व-सामर्थ्य को पहचान लेता है तो उसके लिए कोई कार्य कठिन नही रह जाता। स्व-सामर्थ्य से परिचित व्यक्ति दीन-हीन नही रहता, वह सवल और सर्वक्षम वन जाता है। एक कहानी इस तथ्य को अधिक स्पष्ट कर देगी।

एक साहूकार से एक व्यक्ति ने कुछ ऋण लिया। काफी समय वीत गया, वह उसे चुका नही सका। साहूकार जव-जव उसे देखता, कुछ खरी-खोटी सुना देता। एक वार दोनो अचानक मार्ग मे मिल गये। साहूकार ने आखें तरेरकर कहा—'घसीटे! इस वार व्याज के रुपये क्यो नही भरे? मालूम पडता है, तेरी नीयत खराव हो गई है।'

विनम्र भाव से झुकते हुए उस व्यक्ति ने कहा—'सरकार, इस वार कुछ व्यवस्था नही वैठ पाई है। अगले महीने एक साथ ही दे जाऊगा।'

साहूकार अकडा और आखें लाल कर बोला—"मै कुछ नही जानता। मुझे आज ही रुपये देने होगे।"

उसका हाथ पकड कर मरोड दिया, गालिया दी और दो-चार थप्पड जडते हुए कहा—'अवकी वार रुपये नही लाया तो जान निकाल दूगा, हरामजादे की।'

गरीव व्यक्ति गालिया सुनकर और मार खाकर भी गिडगिडाया, हाथ जोडे, माफी मागी और शीघ्र ही पूरे रुपये ला देने का वचन देकर चला गया।

सयोग वश एक तीसरा व्यक्ति वही कुछ दूर खडा हुआ उन दोनो की वाते सुन रहा था। वह थोडा तेज चलकर उस गरीव व्यक्ति से मिला और पूछा—'तुम्हारा क्या नाम है?'

गरीव ने कहा—'घसीटा।'

वह व्यक्ति ठहाका मारकर हस पडा और वोला—"यही वात है कि तुम इस प्रकार गालिया सुनते हो और मार खाते हो। अपने आपको घसीटा मानने वाले हर व्यक्ति की यही दशा होती है। परन्तु यह तो वतलाओ कि जव तुम्हारा हट्टा-कट्टा शरीर है, मजवूत मास-पेशिया है, आखो मे लाली है, फिर तुम किसी की गालिया क्यो सुन लेते हो और मार क्यो खा लेते हो?"

घसीटा ने कहा—'सेठ मुझसे रुपये मागता है, इसीलिए इतनी तकरार हो रही थी।'

उस व्यक्ति ने कहा—'सेठ रुपये मागता है तो उन्हे ईमानदारी से चुकाओ, परन्तु उसके लिए यो गालिया सुनने और मार खाने की क्या आवश्यकता है? यह सव तो तुम अपनी मानसिक दुर्वलता से ही सहन करते हो। तुम्हारा नाम तुम्हारे मे आत्म-विश्वास उत्पन्न नही होने देता। 'घसीटा' यह भी भला कोई नाम हुआ? शरीर से जव तुम शेर की तरह हो तो शेर की तरह ही निर्भीक रहो। मुट्ठी भर हड्डियो का ढाचा वह सेठ तुम्हारे सामने क्या चीज है? याद रखो, आज से तुम 'घसीटा' नही, शेरसिंह हो।'

घसीटा के मन मे भी विजली-सी कौध गई। उसे लगने लगा, वस्तुत ही वह घसीटा नही, शेरसिंह है। उसने निर्णय किया कि अव वह फिर कभी 'घसीटा' नही वनेगा।

उक्त घटना के कुछ दिन पश्चात् ही एक वार फिर साहूकार सामने मिल गया। उसने सदा की तरह उसे ललकारते हुए कहा—'अवे ओ घसीटे के वच्चे! अव तक भी रुपये नहीं लाया। हरामजादे! कह रहा था न कि शीघ्र ही ला दूंगा।'

साहूकार की कड़कडाती आवाज सुनकर भी वह सीधा खडा रहा। यह प्रथम अवसर ही था कि न वह गिडगिडाया और न दात निपोर कर दया की भीख मागी। सहज भाव से वोला—'सेठ साहव! अव मैं घसीटा नही, शेरसिंह हू। रुपये हाथ

मे आने पर मैं स्वयं पहुंचा दूगा। परन्तु उनके लिए ओछी जवान सुनने को तैयार नही हूं।'

सेठ अधिक उग्र हुआ और भभका—'मूर्ख ! कमीने !! नालायक !!! मेरे रुपये मारकर वैठ गया और फिर सामने वोलता है, शर्म नही आती वेशर्म को?'

शेरसिह वीच मे ही वोल पडा—"रुपये द्गा, पर ये गालिया नही सहूंगा और न मार ही खाऊगा। जवान सम्भाल कर वोलिये, नही तो झगडा हो जायेगा।"

सेठ ने उसकी तमतमाती हुई आकृति की ओर देखा तो सकपका गया। स्थिति को भापते ही अपनी आवाज को मध्यम कर दिया और वात को नया मोड देते हुए कहा—'अरे भाई !·तुम तो वुरा मान गये। गाली कौन देता है ? मैं तो रुपयो के लिए कह रहा था कि जव हाथ मे हो, तो शीघ्र दे देना।'

चरित्र विकास का अर्थ

हार्द यह है कि विचारो की निर्वलता ही आदमी को 'घसीटा' वनाए हुए है। यदि वह मिट जाती है तो उसे शेरसिंह वनने मे क्षण भर भी नही लगता। स्वत्व का अज्ञान ही वाधक वना हुआ है कि मनुष्य सदाचारी एव नैतिक नही वन पा रहा है। विचारो की उक्त हीनता को दूर करने की महती आवश्यकता है। यह होने पर मनुष्य के सदाचारी वनने मे कोई विलम्व नही होगा। सुधार की यह एक प्रक्रिया है कि सर्व प्रथम मनुष्य अपने सामर्थ्य का अनुभव करे। ऐसा करने मे आत्मोद्‌वोध होता है और आत्म-विश्वास जागता है। तव फिर हर कार्य उसके लिए सुगम हो जाता है। अणुव्रत के माध्यम से कही जाने वाली चारित्रिक उत्थान की वात केवल चरित्रोत्थान की ही नही, वह विचारोत्थान की भी है। केवल चारित्रिक या वैचारिक उत्थान वास्तविक नही होता, वह केवल उत्थान का भ्रम ही होता है। दोनो का सतुलित व समन्वित उत्थान ही वास्तविक कहा जा सकता है। इसी को चरित्र-विकास कहते है।

जीवन के तीन सूत्र

शक्ति-भण्डार

जन्म एक वात है, परन्तु जीवन विल्कुल दूसरी। जन्मते सभी हे, परन्तु जीवन को जीने वाले विरल ही होते है, अधिकाश तो जीवन को ढोते हैं। उसी प्रकार जैसे मुर्दे को ढोया जाता है या भार को ढोया जाता है। सचमुच ही अनेक लोगो की दृष्टि मे जीवन एक भार वन गया है। अनचाहा भार, जिसे विवशता पूर्वक ढोना पडता है। वे यथाशीघ्र उससे छुटकारा पाने को आतुर हैं। वे नही जानते कि जीवन अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द का भण्डार है। जिस शक्ति और आनन्द को आज तक उन्होने वाहर खोजा है, वह वाहर न होकर अपने ही अन्दर है। जो जहा नही है, वहा उसकी खोज निरर्थक है, उसमे निराशा ही हाथ लगती है। 'काख मे छोरा नगर मे ढिंढोरा' की कहावत ऐसे ही कार्यों के लिए प्रचलित है।

वस्तु कही, खोज कही

एक वुढिया अपने फटे वस्त्र को सी रही थी। अचानक सूई हाथ से छूट गई और खो गई। सध्या का समय था। अधेरा हो चुका था। वुढिया ने सोचा, अधेरे मे खोजने से कोई लाभ नही, प्रकाश मे खोजू, तभी वह मिलेगी। घर मे प्रकाश करने के वजाए उसने सडक पर जल रही विजली के प्रकाश मे खोजना प्रारम्भ किया। वह वहा खोजती रही, खोजती रही, किन्तु सूई जव वहा थी ही नही, तव मिलती कैसे ?

मार्ग से गुजरते हुए एक युवक का ध्यान वुढिया की परेशानी की ओर गया। उसने पास मे आकर पूछा—"क्या खो गया है, वूढी अम्मा ?"

वुढिया ने उसी परेशानी के साथ कहा—"सूई खो गई है, वेटा ! वहुत समय से खोज रही हू, परन्तु मिल ही नही रही है।"

युवक वोला—"तुम ठहरो। मैं खोज देता हू। युवक ने भूमि पर इधर-उधर दृष्टि घुमाते हुए पूछा—"कहा खोई थी अम्मा ?"

बुढिया ने हाथ से अपने घर की ओर सकेत करते हुए कहा—"वहा घर के आगन मे खोई थी।"

युवक ने साश्चर्य कहा—"वहा खोई थी, तब यहा क्यो खोज रही हो ?"

बुढिया बोली—"वहा अधेरा था, यहा प्रकाश है। जब यहा प्रकाश मे भी नही मिल रही है, अधेरे मे तो वह मिलती ही क्या ?"

युवक ने समझाते हुए कहा—"यहा तो वह जीवन भर खोजने पर भी नही मिलेगी। जहा खोई है, वही प्रकाश करके खोजो।'

यह एक कहानी है। पता नही, सत्य है या काल्पनिक, परन्तु इसका निष्कर्ष सनातन सत्य है। शक्ति और आनन्द को अपने से बाहर खोजने वाले उस बुढिया जैसे ही है। उनके घर मे वैसे ही अधेरा है, जैसा बुढिया के घर मे था। वे भी बुढिया की ही तरह शक्ति और आनन्द की खोज वहा करते है, जहा उनका अस्तित्व ही नही होता।

जिन 'खोदा', तिन पाइया

शक्ति और आनन्द अपने मे है अवश्य, परन्तु सहज सुलभ नही है। बहुत लम्बे समय से उन पर आवरण चढते रहे है, अत उनका अस्तित्व बाह्य दृष्टि से ओझल हो चुका है। अन्तर-दृष्टि सबको सुलभ नही होती, अत सबको यह विश्वास प्राप्त नही है कि स्वय उनके अन्दर शक्ति और आनन्द का अनन्त स्रोत प्रवाहित है। धरती के नीचे बहने वाले पानी के स्रोत की ही तरह उसकी स्थिति अदृश्य होते हुए भी सन्देह से परे है। कहा जाता है कि 'जिन खोजा, तिन पाइया' परन्तु यहा कहना चाहिए—'जिन खोदा, तिन पाइया।' जिसने धरती को खोदा, उसे पानी अवश्य मिला, परन्तु उसके लिए तब तक खोदते जाना आवश्यक होता है, जब तक कि पानी मिल न जाए। मिट्टी, ककर और चट्टानो से डरने की आवश्यकता नही, रुकने की भी आवश्यकता नही। उन्हे तो तोडना ही होता है, चाहे आज, चाहे कल, चाहे फिर कभी। इसी तरह शक्ति और आनन्द के स्रोत को पाने के लिए स्वय को खोदना पडता है। बीच मे पडने वाली अज्ञान की चट्टानो की पर्तो को तोडना पडता है, पूर्वाग्रहो की मिट्टी के ढेर हटाने पडते है। इस प्रकार निरन्तर अपनी गहराई मे पैठता हुआ मनुष्य एक दिन अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द के स्रोत को कही बिना भटके अपने मे ही पा लेता है।

वही मजिल, वही मुक्ति

यह पा लेना कोई बाहर से आने वाली वस्तु के पा लेने जैसा नही है। यह तो अपने ही अन्दर मे [illegible] अपनी वस्तु को पा लेने जैसा है। वस्तुत यह अपने मे अपने को ही पा लेना है। अपने आपको पा लेना ही मजिल है, मुक्ति है।

जो अपने को खोदने मे लगे हैं, वे अपने लक्ष्य की सिद्धि मे लगे हुए है। वे जीवन को जीने मे लगे हुए है। जो इस खुदाई से बचकर निकलते है, वे जीवन को जीने से बचकर निकलते है। वे फिर जीवन का केवल भार ढोते है। जिनके सम्मुख अपना कोई लक्ष्य नही होता, दिशा नही होती और मजिल भी नही होती, उनके सम्मुख केवल भटकन होती है, अनन्त भटकन, जिसमे लगता तो है कि गति हो रही है, परन्तु पहुच कही भी नही होती। तेली का बैल सारे दिन चलकर भी कही नही पहुच पाता। वही रहता है, जहा से चलना प्रारम्भ करता है।

वर्तमान का आदर

जीवन को जीने की ओर प्रवृत्त होने से पूर्व उसकी भूमिका के रूप मे कुछ तथ्यो को जान लेना आवश्यक है। जिन्हे मै जीवन के सूत्र कहना पसन्द करूगा। पहला सूत्र है—वर्तमान मे जीना। अतीत बीत चुका होता है और भविष्य अनागत। एक की स्मृति और दूसरे की कल्पना ही की जा सकती है। मूलत दोनो ही असत् है, अविद्यमान है। सत् या विद्यमान तो केवल वर्तमान ही होता है। उसे सार्थक बनाना आवश्यक है। वर्तमान जब मनुष्य के सम्मुख उपस्थित होता है, तब यदि मनुष्य उसे अतीत या भविष्य के चिन्तन की यान्त्रिक आदत मे खोया हुआ मिले, तो वह चुपचाप आगे बढ जाने के अतिरिक्त और क्या करे? वह चला जाता है। मनुष्य तब प्राय पीछे मे उसके विषय मे चिन्ता करता है कि वह समय निष्फल चला गया। इस प्रवृत्ति को रोकना है। वर्तमान को सफल बनाना है। उसका एक ही तरीका है कि वर्तमान मे जीया जाये। वर्तमान का आदर करना सीखे बिना न अतीत का ही आदर किया जा सकता है और न अनागत का ही।

सहजता

दूसरा जीवन सूत्र है—सहजता मे जीना। मनुष्य का प्राय सारा जीवन औपचारिकता मे ही बीतता है। एक मुखौटा सदा लगाये रहना पडता है ताकि उसका मूल रूप किसी के सम्मुख उद्घाटित न होने पाये। धीरे-धीरे वही स्वभाव हो जाता है। मुखौटा मूल हो जाता है और मूल विस्मृत। अपने आपके सहज रूप को प्रकट होने देने की आवश्यकता है। यदि वह विकृत भी हो तो भी उसी रूप को प्रकट होने देना चाहिए। ढकने मे विकृति दूर नही हो पाती। उल्टा यह विश्वास होने लगता है कि हमारी विकृति का किसी को कोई पता नही चल सकेगा। सभी इस मुखौटे को ही मूल रूप मान लेगे। परन्तु उस भ्रान्ति मे नही रहना चाहिए। कोई जाने या न जाने, स्वय तो स्वय को जानता ही है। स्वय से छिपकर मनुष्य कही जा नही सकता। स्वय को स्वय से छिपा नही सकता। इसीलिए सहजता को खुलने देना है। उसमे अपने को अच्छी तरह से जानने और

सुधारने का अवसर मिलता है। नाटक के पात्र की तरह कृत्रिमता मे नही, वास्तविकता मे जीना है।

अनासक्ति

तीसरा सूत्र है—अनासक्त होकर जीना। साधारणतया मनुष्य विविध सम्बन्धो, सस्कारो और विकारो से घिरा हुआ रहता है। बाहर से ही नही, भीतर से भी घिरा हुआ होता है। वह किसी का मित्र होता है, तो किसी का शत्रु, किसी का प्रिय तो किसी का अप्रिय, इसी तरह किसी के प्रति उदार और किसी के प्रति अनुदार। कभी क्रोध मे तो कभी अहकार मे। इन बाह्य और आन्तरिक घिरावो के कारण उसे कभी एकान्त चिन्तन का तथा सबसे दूर रहकर स्वय को जानने एव समझने का भी अवसर नही मिलता। इन बाह्य तथा आन्तरिक आच्छादनो मे मनुष्य की आसक्ति इतनी गहरी हो जाती है कि उससे दूर हटकर जीने मे उसे भय लगने लगता है।

आवरण की वृत्ति पर विजय पाए

मन के आच्छादनो की आसक्ति तो बहुत गहराई की बात है, जबकि तन के आच्छादनो की आसक्ति को छोड पाना भी कठिन होता है। सौ-सौ विचार या विकल्प सामने आ खडे होते है। सरदी लग जाने, अभाव-ग्रस्त या अशिष्ट कहलाने से लेकर तन की विकृतियो या खामियो का सबके सामने आ जाने तक का भय सताने लगता है। मनुष्य जितना अपनी शारीरिक वास्तविकता से—अनावृतता से कतराता है, उससे कही अधिक मानसिक वास्तविकता के उद्घाटन से कतराता है। विभिन्न प्रकार के आवरणो के साथ ही वह अपनी आन्तरिकता या बाह्यता को ससार के सम्मुख प्रस्तुत करने का अभ्यस्त हो गया है। वस्त्रावरण रहते हुए हमारी अगुलिया हमारे शरीर तक नही पहुच पाती, उसी तरह सस्कारो और विकारो के आवरण हमे स्वय हमारे तक नही पहुचने देते।

इसलिए स्वय को ढक लेने या आवृत कर लेने की इस वृत्ति पर विजय पाकर ही वास्तविक जीवन तक पहुचा जा सकता है। जीवन के ये सूत्र अपने को अपनी गहराइयो तक खोदकर पा लेने मे नितान्त सहायक होते हैं। 'नान्य. पन्था अयनाय'—दूसरा कोई मार्ग नही है।

मनुष्य और उसकी डगमगाती निष्ठा

मन ही मनुष्य है

ससार की सबसे बडी समस्या चारित्रिक अभाव है। यह केवल भारत मे ही नही किन्तु प्राय सभी राष्ट्रो मे प्रकारान्तरो से दृष्टिगत हो रहा है। चरित्र का निर्माण मनुष्य के मन से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार के विचार उसके मन मे उत्पन्न होने लगते है, धीरे-धीरे वैसे ही उसके सस्कार बन जाते है, इसीलिए **'मानसं विद्धि मानव'** इस ऋषि वाक्य मे कहा गया है कि मन ही मनुष्य है। जिन चारित्रिक गुणो को आदर्श के रूप मे सम्मुख रखा जाता है और बार-बार उन पर चिन्तन-मनन किया जाता है, कालान्तर मे उनका अनुसरण भी सम्भव होने लगता है।

कोई व्यक्ति यदि यह बतला सके कि वह किन व्यक्तियो को अपना आदर्श मानता है तो उसी के आधार पर प्राय यह भी जान लिया जा सकता है कि वह किस चारित्रिक धरातल पर जी रहा है। सिनेमा अभिनेत्रियो की गतिविधियो पर जागरूकता से ध्यान रखने वाले व्यक्ति का तथा किसी सत्पुरुष की गतिविधियो पर मनन करने वाले व्यक्ति का मानसिक धरातल एक होना सम्भव नही है, फिर भी मानवीय सामर्थ्य मे एक विशेषता बहुत ही आशाप्रद रही है—वह अपने मानसिक स्तर को सावधान होकर बदल भी सकता है। यह तो सम्भव नही है कि सभी व्यक्तियो का मानसिक धरातल एक समान समुन्नत हो जाए और वे सच्चरित्र के धनी हो जाए, किन्तु उतना ही असम्भव यह भी तो है कि सभी व्यक्तियो का मानसिक धरातल निम्न हो जाए और वे दुश्चरित्र ही बन जाए। जब तक यह ससार है तब तक चारित्रिक धरातल की यह विषमता विद्यमान रहेगी, परन्तु सच्चरित्रता और दुश्चरित्रता मे से जब जिसका प्राबल्य होगा, युग की स्थिति उसी के अनुरूप अच्छी और बुरी होती रहेगी।

देवत्व और पशुत्व

मनुष्य मे देवत्व और पशुत्व—ये दोनो ही भाव विद्यमान रहते है। किसी युग मे

देवत्व का प्रावल्य होता है तो किसी मे पशुत्व का। इन दोनो मे धूप और छाया की तरह शाश्वत सघर्ष चालू रहता है। हर युग के प्रेरक पुरुषो के लिए यह आवश्यक होता है कि मानव जाति के देवत्व का उद्दीपन करे और पशुत्व का शमन। जव-जव देवत्व उभरता है तव-तव समाज अपने गुण गौरव से पारिपार्श्विक वातावरण को सुगन्धित कर देता है, किन्तु जब-जव पशुतत्व उभर आता है तव वही समाज नाना प्रकार के विग्रह और पारस्परिक विद्वेष से वातावरण को इतना दूषित वना देता है कि उसमे सास लेना भी कठिन हो जाता है।

चरित्र का दौर्भिक्ष्य

समाज का वर्तमान वातावरण इसी ओर इगित करता है कि इस समय पाशविक वृत्तियो का ही प्रावल्य होता जा रहा हे। व्यक्ति अपने साधारण कर्त्तव्यो मे भी वहुत असावधान होता चला जा रहा है। अनीतिमय आचरण स्वाभाविक वनता जा रहा है जवकि नीतिमय आचरण असम्भव-सा वन गया है। आज किसी को वेईमानी करते देखकर आश्चर्य नही होता किन्तु ईमानदारी करते देखकर आश्चर्य होता है। एक वार एक प्रवासी भाई मुझे वता रहे थे कि मोटर से यात्रा करते समय कानपुर के पास उनकी मोटर के पिछले भाग से वधी हुई सामान की कोई गठरी गिर गयी और उन्हे उसका कोई पता भी न चला। उसी समय एक स्थानीय तागेवाले ने उसे गिरते देख लिया था, उसने मोटर के नम्वर भी देख लिये। कानपुर मे काफी तलाशने के वाद उसने वह गठरी हमे लौटायी। इस वात को सुनने वाले व्यक्ति ने मेरे पास उस तागेवाले की ईमानदारी की प्रशसा की। पास मे वैठे हुए एक व्यक्ति ने तो आश्चर्याभिभूत होते हुए यहा तक कहा कि क्या कोई ऐसा व्यक्ति भी मिल सकता है? उसके कथन से मुझे लगा कि वर्तमान मे वेईमानी का काम स्वाभाविक वन चुका है। जव कोई ईमानदारी का काम करता है तभी लोगो को आश्चर्य होता है मानो अनहोनी वात कर दी हो। जनता के इस दृष्टिकोण से पता लगता है कि समाज मे सच्चरित्र का कितना वडा दौर्भिक्ष्य है और देव तत्त्व पर पशु तत्त्व कितना हावी हो रहा हे?

सत्य के प्रति निष्ठा

चारित्रिक पतन के मुख्य कारण है—सत्य और अहिसा के प्रति निष्ठा का अभाव। सत्य के प्रति निष्ठा न रहने से मनुष्य मे अपने आपकी हर वृत्ति को छिपाकर रखने की भावना पैदा होती है। सचाई को वस्तुत आवरण की आवश्यकता नही होती, वह तो झूठ को ही होती है। खुले मुह यदि वह सामने आ जाय तो उसे पहचान लिये जाने का सन्देह रहता है। इसीलिए वह आवरण या मुखावगुठन के विना वाहर नही आ सकती। यही कारण है कि छुटपुट व्यापार करने वालो मे

लेकर विश्व संस्था तक मे एक-दूसरे से अपने मनोभावो को छिपाने की वृत्ति चल रही है। बहुधा असत्य को सत्य का बाना पहनाकर उपस्थित करने की दक्षता मे ही शक्ति का अपव्यय किया जा रहा है। मानो सत्य को ढक देना ही सबका लक्ष्य बना हुआ हो। सत्य जो कि हर प्रकार की नीति का प्राणभूत तत्त्व है, आज राजनीति से तो एक प्रकार से बहिष्कृत ही कर दिया गया है। पर समाज नीति मे भी उसके महत्त्व को समाप्त किया जा रहा है। तब फिर ऐसी प्राणहीन नीतियो से जो हल खोजे जा रहे है, वे सप्राण कहा तक हो सकते है? उनमे सत्यता की पुन प्राण-प्रतिष्ठा हो, यह आवश्यक है, अन्यथा जीवन के हर क्षेत्र मे केवल दिखावा ही दिखावा रह जाएगा, वास्तविकता खोजने पर भी मिलनी कठिन हो जाएगी।

अहिंसा के प्रति निष्ठा

इसी प्रकार अहिंसा के प्रति निष्ठा नही रहने से भय की वृत्ति उत्पन्न होती है, जो कि पारिवारिक जीवन से लेकर राजनीतिक जीवन तक मे पारस्परिक अविश्वास पैदा कर देती है। मनुष्य किसी भी समस्या को उसके न्याय या अन्याय होने की दृष्टि मे न देखकर उसी दृष्टि से देखता है जिसमे कि वह अपने पक्ष का समर्थन और विपक्ष का खण्डन कर सके। जब भय की भावना तीव्र हो जाती है तब वह हिंसा का रूप भी ले लेती है। उसमे एक-दूसरे को समझाने के लिए कोई स्थान नही रह जाता। वैसी स्थिति मे हर समस्या को सुलझाने का एक ही तरीका माना जाने लगा है कि अपने विपक्ष को समाप्त ही कर दिया जाए। पर उससे समस्या सुलझने के स्थान पर अधिक ही उलझती देखी जाती है। व्यक्ति विशेष को समाप्त कर देने से वे विचार समाप्त नही हो जाते, जिनका कि वह प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु तात्कालिक हल के प्रलोभन मे बहुधा ऐसा किया जाता रहा है। राजनीति मे तो इस प्रकार की हत्याए यत्र-तत्र होती रहती है। लगता है कि मनुष्य अभी तक अपनी प्राचीन बर्बरता को भूल नही पाया है।

सत्य और अहिंसा का विश्वास

सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र मे वैयक्तिक तथा सामूहिक हिंसा का प्रयोग मनुष्य जाति की प्रारम्भ, कालीन स्थितियो से लेकर आज तक अबाध गति से चलता रहा है, पर उसकी असफलता इसीसे सिद्ध है कि उसने सदैव पारस्परिक घृणा को बढावा देकर और अधिक हिंसा के ही बीज बोये है। मानव मानव की मानसिक दूरी को पाटने के स्थान पर उसने सदैव उसमे वृद्धि ही की है। आश्चर्य तो इस बात का है कि फिर भी अभी तक अहिंसा के प्रति मनुष्य के मन मे जो विश्वास और श्रद्धा भाव उत्पन्न हो जाना चाहिए था, वह भी नही हुआ है। अब

भी उसे अक्षम और अकिंचित्कर मानकर उपेक्षित किया जा रहा है। लोगो के मानसिक धरातल पर जमे हुए उसके पैरो को डगमगा देने के लिए उसे 'कायरता' तक की सज्ञा से विभूषित किया जा रहा है।

चारित्रिक उत्थान का स्वप्न देखने वाले व्यक्तियो के लिए यह आवश्यक है कि वे हर व्यक्ति मे सत्य और अहिसा का विश्वास जागृत करें। कुछ मानवीय कमजोरियो के कारण आज जो यह भावना वल पकडती जा रही है कि शान्ति युग मे ही सत्य और अहिसा कारगर हो सकती है, अन्यत्र नही, उसे हटाया जाए। जनता के समक्ष प्रयोगात्मक ढग से ऐसे उदाहरण पेश किये जाए कि जो आध्यात्मिक क्षेत्र मे ही नही, किन्तु राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र मे भी पूर्ण रूप से समस्या का समाधान उपस्थित कर सकते हो।

प्रगति के सोपान

अस्तित्व की पृथकता

मैं जहा ठहरा हुआ हू, उस मकान की दाहिनी भीत से सटे हुए दो वृक्ष खडे है, जो कि उस दुमजिले मकान की छत पर झुक-झुक आये है। सहस्रो-सहस्रो पत्तियो से भरी उनकी शाखाए हवा मे यो झूमती है, मानो किसी के लिए पखा झल रही हो। मै उन्हे देखता हू और मन-ही-मन आश्चर्य से भर जाता हू कि प्रकृति ने कितने करीने से उन सब पत्तियो को समझाकर यथास्थान लगाया है। मैं कई बार उनके समीप चला जाता हू और ध्यान से देखता हू, तो लगता है कि जो पत्तिया दूर से बिलकुल समान दिखाई देती है, वे वस्तुत समान नही है। खोज की दृष्टि से देखने, सोचने और समझने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि प्रकृति के विशाल राज्य मे किन्ही दो पत्तियो की पूर्ण समानता असम्भव है। समानता के विशाल नीलाकाश मे भी असमानता—विशेषता के असख्य तारक यत्र-तत्र चमकते हुए अपने पृथक् अस्तित्व की घोषणा करते दृष्टिगत हो ही जाएगे। केवल पत्तियो के लिए ही क्यो, प्रकृति की हर वस्तु के लिए यही सिद्धान्त अविकल रूप से लागू होता है।

सूक्ष्म निरीक्षण निष्कर्ष

कई वर्ष पूर्व मैने युगल-जन्मा भाइयो मे से एक को देखा था। परिचय हुआ तो निकटता भी आयी। पचासो बार वह मेरे पास आया होगा। कुछ दिनो तक मैं उसके मकान पर भी ठहरा था, लेकिन अगले ही वर्ष जब उसके दूसरे भाई को देखा तो मुझे उसी का भ्रम हो गया। एक बार नही, अनेक बार दोनो के अन्तर को पहचानने मे मैंने भूल की। आखिर दोनो को एक साथ देखकर पार्थक्य खोजने का प्रयास किया, तो लगा कि दोनो की आकृतियो मे काफी समानता के साथ-साथ काफी असामनता भी है। इतने दिनो तक मेरी आखो ने जो कुछ देखा था, वह मात्र

भी उसे अक्षम और अकिंचित्कर मानकर उपेक्षित किया जा रहा है। लोगो के मानसिक धरातल पर जमे हुए उसके पैरो को डगमगा देने के लिए उसे 'कायरता' तक की सज्ञा से विभूषित किया जा रहा है।

चारित्रिक उत्थान का स्वप्न देखने वाले व्यक्तियो के लिए यह आवश्यक है कि वे हर व्यक्ति मे सत्य और अहिसा का विश्वास जागृत करें। कुछ मानवीय कमजोरियो के कारण आज जो यह भावना वल पकडती जा रही है कि शान्ति युग में ही सत्य और अहिसा कारगर हो सकती है, अन्यत्र नही, उसे हटाया जाए। जनता के समक्ष प्रयोगात्मक ढग से ऐसे उदाहरण पेश किये जाए कि जो आध्यात्मिक क्षेत्र मे ही नही, किन्तु राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र मे भी पूर्ण रुप से समस्या का समाधान उपस्थित कर सकते हो।

प्रगति के सोपान

अस्तित्व की पृथकता

मै जहा ठहरा हुआ हू, उस मकान की दाहिनी भीत से सटे हुए दो वृक्ष खडे है, जो कि उस दुमजिले मकान की छत पर झुक-झुक आये है। सहस्रो-सहस्रो पत्तियो से भरी उनकी शाखाए हवा मे यो झूमती है, मानो किसी के लिए पखा झल रही हो। मै उन्हे देखता हू और मन-ही-मन आश्चर्य से भर जाता हू कि प्रकृति ने कितने करीने से उन सब पत्तियो को समझाकर यथास्थान लगाया है। मै कई बार उनके समीप चला जाता हू और ध्यान से देखता हू, तो लगता है कि जो पत्तिया दूर से बिलकुल समान दिखाई देती है, वे वस्तुत समान नही है। खोज की दृष्टि से देखने, सोचने और समझने के पश्चात् मै इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि प्रकृति के विशाल राज्य मे किन्ही दो पत्तियो की पूर्ण समानता असम्भव है। समानता के विशाल नीलाकाश मे भी असमानता—विशेषता के असख्य तारक यत्र-तत्र चमकते हुए अपने पृथक् अस्तित्व की घोषणा करते दृष्टिगत हो ही जाएगे। केवल पत्तियो के लिए ही क्यो, प्रकृति की हर वस्तु के लिए यही सिद्धान्त अविकल रूप से लागू होता है।

सूक्ष्म निरीक्षण : निष्कर्ष

कई वर्ष पूर्व मैने युगल-जन्मा भाइयो मे से एक को देखा था। परिचय हुआ तो निकटता भी आयी। पचासो बार वह मेरे पास आया होगा। कुछ दिनो तक मैं उसके मकान पर भी ठहरा था, लेकिन अगले ही वर्ष जब उसके दूसरे भाई को देखा तो मुझे उसी का भ्रम हो गया। एक बार नही, अनेक बार दोनो के अन्तर को पहचानने मे मैंने भूल की। आखिर दोनो को एक साथ देखकर पार्थक्य खोजने का प्रयास किया, तो लगा कि दोनो की आकृतियो मे काफी समानता के साथ-साथ काफी असामनता भी है। इतने दिनो तक मेरी आखो ने जो कुछ देखा था, वह मात्र

उन दोनो की आकृतियो का स्थूल निरीक्षण था, अत भेदक रेखाए पकड मे नहीं आ पायी। सूक्ष्म-निरीक्षण करने पर ही उनका पता चल पाया।

भिन्न है उपादान और निमित्त

साराश यह है कि पत्तियो से लेकर मनुष्यो तक मे एक ऐसी स्वभावगत पारस्परिक भिन्नता व्याप्त है कि जिसे न मिटाया ही जा सकता है और न नकारा ही जा सकता है। यह भिन्नता निष्कारण नही होती। प्रत्येक का अपना भिन्न उपादान होता है और भिन्न निमित्त, तो फिर क्षमताएं भी भिन्न ही होगी। काल, क्षेत्र और प्रयोग आदि उस भिन्नता मे अतिरिक्त वृद्धि कर देते है। इस प्रकार किन्ही दो के पूर्णत एक जैसे होने की सम्भावना ही नही रह जाती। मेरे जैसा केवल मैं ही होऊगा और तुम्हारे जैसे केवल तुम ही। तुम्हारी विशिष्ट योग्यताए मेरे मे और मेरी विशिष्ट योग्यताएं तुम्हारे मे पनप नही पायेंगी। ऐसी स्थिति मे दूसरो की विशेषताओ या क्षमताओ के प्रति ईर्ष्या या डाह करने जैसी स्थिति नही रह जाती है। फिर भी यदि क्वचित् ईर्ष्या आदि की भावना पनपती है तो कहना चाहिए कि वह मनुष्य का व्यामोह ही है। उसमे उक्त क्षमताओ के विकास का कोई सम्बन्ध नही है। ईर्ष्या करने से तो यह अधिक स्वस्थ मार्ग होगा कि व्यक्ति स्वय अपने मे उस क्षमता के बीज को टटोले और फिर उसे विकसित करने मे लग जाए।

क्षमताओ की पहचान

प्रगति का प्रथम सोपान अपनी क्षमताओ को पहचानना है तो दूसरा उनके विकासार्थ पूर्ण मनोयोग मे जुट जाना। दूसरो के अनुकरण का उसमे तनिक भी स्थान नही हो सकता। अनुकरण तो एक ऐसा भटकाव है, जो मनुष्य के स्वतत्र व्यक्तित्व के विकास को रोकता है। उससे उसकी दृष्टि स्वय अपने पर से भटककर दूसरे पर रहने की अभ्यस्त हो जाती है। फिर उसके लिए मै क्या कर सकता हू, यह आत्म-प्रश्न गौण हो जाता है और 'वह क्या करता है' यह मुख्य। बात यही समाप्त नही हो जाती, उसके बाद कैसे करता है, कब करता है, कितना करता है, आदि अनेक बातो के लिए भी वह दूसरे पर ही निर्भर हो जाता है। ऐसा करते समय वह यह भूल जाता है कि स्वतत्र-चिन्तन की अपनी कामधेनु को वह स्वय ही दूसरे के खूटे पर बाध रहा है। फल यह होता है कि दूसरे जैसा वह बन नही सकता और जैसा बन सकता है, वैसे सामर्थ्य का उपयोग नही कर पाता।

व्यक्ति स्वय है अपना सहायक

तुम क्या बन सकते हो—यह स्वय तुम्हे सोचना है और फिर पूर्ण निर्णय के साथ अपनी पूर्ण शक्ति को उसी मे लगा देना है। उस कार्य मे यदि कोई सर्वोत्कृष्ट

सहायक हो सकता है, तो वह तुम्ही हो सकते हो, अन्य कोई नही। एक बार चारो ओर से हताश हुए एक व्यक्ति ने एक मनोवैज्ञानिक से सहायता मागी। मनोवैज्ञानिक ने उसकी सारी स्थिति का अध्ययन करने के पश्चात् कहा—'तुम्हारी पूरी बात सुनने और उस पर विचार करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि मैं तुम्हारी कोई सहायता नही कर सकता परन्तु मै एक ऐसे व्यक्ति को जानता हू, जो निश्चित ही तुम्हारी सहायता कर सकता है और वह उसे दूसरे कमरे मे ले गया। वहा एक आदमकद दर्पण पर से पर्दा उठाकर उसी का प्रतिविम्ब दिखलाते हुए मनोवैज्ञानिक ने कहा—'यही वह आदमी है, जो तुम्हारी सहायता कर सकता है। ससार भर मे इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी तुम्हारे लिए कुछ नही कर सकता।'

वह व्यक्ति एक क्षण के लिए उस प्रतिविम्ब को देखता रहा और फिर चुपचाप चला गया। कालान्तर मे वही व्यक्ति एक सुप्रसिद्ध व्यापारिक सस्थान का अध्यक्ष वना। उस व्यक्ति को विनाश के द्वार से खीचकर सफलता के उच्चासन पर ला विठाने वाला अन्य कोई नही, अपनी शक्ति का ज्ञान और तदनुकूल प्रवर्तन ही था।

विना सोचे-समझे सिर झुकाकर दूसरे के पीछे चल पड़ना भेड-वकरियो का काम है। सिह ऐसा कभी नही करता। यदि मनुष्य भेड-वकरियो की श्रेणी मे नही जाना चाहता, तो उसके लिए वह परम आवश्यक है कि वह अपने सिहत्व को समझे, अपनी क्षमताओ तथा विशेषताओ को पहचाने और फिर उनके निखार में पूर्ण निष्ठा से लगे। प्रगति के इन्ही सोपानो पर चरण रखते हुए ऊपर उठा जा सकता है।

सामर्थ्य और उसका विश्वास

श्वास विश्वास

विश्वास मनुष्य के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना कि श्वास। श्वास के अभाव मे देह-धारण सम्भव नही होता, तो विश्वास के विना जीवन-धारण। विश्वास का उद्गम आत्मा मे होता है, अत उसे एक अभौतिक शक्ति कहा जा सकता है। ऐसी शक्ति, जो दुष्प्राप्य तो अवश्य है, परन्तु अप्राप्य बिलकुल नही। मूल वात यह है कि वह आत्मा की ही एक प्रसुप्त शक्ति है। उसे जगा लेना ही उसे उत्पन्न कर लेना या प्राप्त कर लेना है। जिसने उस शक्ति को जगा लिया, उसके लिए फिर असाध्य कुछ भी नही रह जाता। हमारे विश्वास की कमी का ही दूसरा नाम असाध्यता है। हमारी चेतना मे अभी तक अनेकानेक अध-कक्ष इसलिए विद्यमान हैं, क्योंकि हमारे विश्वास का प्रकाश वहा तक पहुच नही पाया है।

विश्वास स्वय पर

विश्वास का तात्पर्य अपने आप पर विश्वास—आत्म-विश्वास से है। दूसरे पर किया जाने वाला विश्वास तो उसी का विस्तार मात्र होता है। आत्म-विश्वास के वृक्ष का मूल हृदय मे गहरा जमा हुआ हो तभी उसकी शाखाए दूर-दूर तक फैल सकती है। मूल के अभाव मे शाखाओं के विस्तार की कल्पना की ही नही जा सकती। अपने पर जिसका विश्वास नही होता, वह निश्चित ही किसी अन्य पर विश्वास करने मे झिझकेगा। अपने पर का अविश्वास ही वस्तुत दूसरो का अविश्वास बन जाया करता है।

शक्ति है विश्वास मे

मनुष्य मे सामर्थ्य की कमी नही है, परन्तु सामर्थ्य के विश्वास की कमी है। वह स्वय को असमर्थ, प्रतिभाहीन और विफल तो विना ही किसी झिझक के मान लेता है, परन्तु असीम सामर्थ्य, ज्ञान और आनन्द का स्वामी अनुभव करते उसे

वडा सकोच होता है। वस्तुत अनन्त सामर्थ्य की अनुभूति के लिए अनन्त विश्वास की भी अपरिहार्य आवश्यकता होती है। सामर्थ्य और उसके विश्वास की सममात्रा प्राय उपलब्ध नही होती, इसीलिए व्यक्ति के सामर्थ्य का काफी महत्त्वपूर्ण अश निष्फल चला जाता है। समयोग्यता वाले दो व्यक्तियो मे भी आत्म-विश्वास की तरतमता के कारण ही इतना वडा अन्तर हो जाता है कि एक वहुत कुछ कर सकता है, दूसरा कुछ भी नही। वस्तुत शक्ति के विश्वास मे ही शक्ति निहित होती है। उसके अभाव मे सवसे सवल व्यक्ति भी सवसे निर्वल रह जाता है।

क्षोभ और अविश्वास की परिणति

महारथी कर्ण अर्जुन से किसी प्रकार कम नही था, परन्तु स्वय उसी के सारथी शल्य ने रण-क्षेत्र मे लगातार उसके आत्म-विश्वास को घटाने का प्रयास किया। उसने कहा कि अर्जुन एक महान् योद्धा है। तुम उसकी वरावरी कभी नही कर सकते, तुम उसे किसी भी प्रकार से जीत नही सकते। वार-वार दुहराये गये उक्त वाक्यो से कर्ण मानसिक स्तर पर टूट गया। उस स्थिति मे न केवल उसके रथ का चक्र ही धस गया, अपितु उसके मन का चक्र भी क्षोभ और अविश्वास के कीचड मे धस गया। न वह अपने रथ का उद्धार कर पाया और न मन का। असमजसता की उसी अवस्था मे अर्जुन के वाणो ने उसे वही ढेर कर दिया।

आत्मविश्वास की फलश्रुति

इसके विपरीत हमने अपने युग मे देखा है कि महात्मा गाधी ने जव निरस्त्र भारतीयो के आत्मविश्वास को जगाया तो दुनिया का सबसे बडा ब्रिटिश-साम्राज्य सशस्त्र सेनाओ की विद्यमानता मे भी भू-लुठित हो गया। अहिंसा द्वारा हिसक-शक्ति को पराजित करने का आत्म-विश्वास जहा भारत को स्वतत्र करा गया, वहा ससार के सम्मुख एक नया मार्ग-दर्शन भी प्रस्तुत कर गया। यद्यपि पहले-पहल उस आत्मविश्वास को एक पागलपन ही समझा गया था, परन्तु उसकी कार्य-परिणति ने अनेक सम्भावनाओ के द्वार खोल दिये।

आत्मविश्वास की कमी परिणाम

असफलता, पराजय, अपूर्णता आदि आत्मविश्वास की कमी के ही विभिन्न परिणाम है। यदि उसकी परिपूर्ण खुराक व्यक्ति को मिलती रहे, तो भावना की कोई कली फूल वनकर सुरभि विखेरने से पूर्व कभी मुरझा नही सकती। आत्मविश्वास को एक प्रकार का सजीवन रस ही मानना चाहिए। उसके कुछ विंदु भी भावना के स्तर पर मृत व्यक्ति को जीवित कर देते है। इसी प्रकार से उसका अभाव जीवित को भी मृत वना डालता है। आत्म-हत्या करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का आत्म-

विश्वास ही समाप्त हो चुका होता है, अन्यथा कोई स्वयं मरना कैसे चाह सकता है ?

पूर्ण निर्णय : पूर्ण विश्वास

मनुष्य के आत्मविश्वास मे घटाव-बढ़ाव आता रहता है, इसीलिए उसकी कार्य-शक्ति तथा सफलता मे भी घटाव-बढाव आता रहता है। पूर्ण आत्म-विश्वास से ऐसी सर्जन-शक्ति का उदय होता है, जो कभी किसी कार्य को अपूर्ण नही रहने देती। हम क्या है—इस चिन्तन मे अधिक शक्ति खपाने की आवश्यकता नही, किन्तु हमे क्या बनना है—यह निर्णय कर पूर्ण विश्वास के साथ उसी ओर बढने मे सम्पूर्ण शक्ति लगा देनी चाहिए। अधूरा निर्णय अनिर्णय की कोटि मे आता है और अधूरा विश्वास अविश्वास की कोटि मे। इसलिए पूर्ण निर्णय और पूर्ण विश्वास ही सिद्धि-दायक हो सकता है।

हर सामर्थ्य और सामर्थ्य के हर विश्वास के साथ उच्च आदर्श का योग होना आवश्यक है, अन्यथा मानवीय दुर्बलताओ के कारण व्यक्ति उनका विनाश कार्यों मे भी प्रयोग कर सकता है, परन्तु वह प्रयोक्ता का ही दोष माना जाएगा, सामर्थ्य और उसके विश्वास का नही।

प्राण : एक व्यावहारिक विश्लेषण

तीन अनिवार्यताएं

बहुत समय पहले मैने एक दोहा सुना था—

मोहन पास गरीब के, को आवत को जात ।
एक बिचारो सांस है, आत-जात दिन रात ॥

गरीव के पास और तो कोई नही आता-जाता, वस एक वेचारा सास ही है, जो नियमित रूप से आता-जाता रहता है। यहा सास को वेचारा कहा गया है। साधारण लोग इसे वेचारा ही समझते है। इसीलिए इसका कभी कोई मूल्याकन भी नही किया जाता। इसे वेचारा समझना एक भूल है। यह तो हमारे शरीर-धारण का प्रमुख आधार है, इसे समझना वहुत आवश्यक है।

हमारा यह शरीर साधना का मूल आधार है, क्योकि हमारी समस्त क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ का वाहक यही है। इस शरीर को अस्तित्व मे रखने के लिए तीन वस्तुए सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, उन्हे अनिवार्य एव अपरिहार्य कहा जाए तो अत्युक्ति नही होगी, वे है—भोजन, जल और श्वास।

श्वास : अस्तित्व का द्योतक

भोजन वहुत स्थूल वस्तु है। उसके विना व्यक्ति अनेक महीनो का लम्वा समय निकाल सकता है। इसी प्रकार भोजन के साथ-साथ जल का भी परित्याग करके अनेक दिन निकाले जा सकते है। तेरापथ धर्मसघ की एक सदस्या साध्वीश्री जेठाजी ने अन्न-जल ग्रहण किये विना वाईस दिन निकाल दिए थे। सन् १९९० मे साध्वी गुलावाजी ने अन्न-जल त्याग का २८ दिनो का कीर्तिमान स्थापित किया। परन्तु श्वास के विना तो व्यक्ति अपने शरीर को इतने मिनट भी कायम नही रख सकता। श्वास हमारे जीवन के अस्तित्व का द्योतक है। जव व्यक्ति मरण शैया पर होता है तव उसके नाक के सामने रूई का पतला-सा फाहा रखा जाता है, ताकि यह जाना जा सके कि व्यक्ति जीवित है या मृत। यदि जरा-सी भी श्वास की क्रिया चल

रही होती है, तो यह निश्चय करने मे विलम्ब नही होता कि व्यक्ति जीवित है। इसीलिए कहा जा सकता है कि श्वास का अस्तित्व ही जीवन के अस्तित्व की प्रथम घोषणा है और उसका अभाव मृत्यु की। जो श्वास प्रति समय साथी बनकर मनुष्य के पास रहता है, उसके विषय मे उसका अज्ञान भी उतना ही गहन है। व्यक्ति प्राय कभी ध्यान ही नही देता कि श्वास आ रहा है या जा रहा है? लम्बा आ रहा है या छोटा, जल्दी आ रहा है या धीरे-धीरे। इस विषय मे इतना औदासीन्य क्या है, कह पाना कठिन है। शायद नीतिकारो का उक्त कथन कुछ समाधान प्रदान कर सकता है—"अति परिचय हो जाने पर किसके सम्मान मे ह्रास नही हो जाता?"

व्यक्ति ने कभी यह जानने का प्रयास ही नही किया कि हमारे शरीर मे श्वास के द्वारा कौन-कौन से स्थान प्रभावित होते है। उसकी क्या कार्य-विधि है और श्वास-प्रश्वास कैसे एव कितना लेना-छोडना चाहिए,। मानो इन सारी जिज्ञासाओ को या तो अनुत्थानोपहत कर दिया गया हो या फिर अज्ञानान्धकार मे विलीन कर दिया गया हो।

पहला श्वास

जब तक बालक मा के गर्भ मे होता है तब तक उसका जीवन मा के श्वास-प्रश्वास से ही चलता रहता है। मा का श्वास ही उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति करता रहता है। गर्भ मे उसके शरीर के अवयव धीरे-धीरे परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त होते है। बालक ज्यो ही गर्भ से बाहर आता है, उसके साथ एक विचित्र घटना घटती है कि अब उसको अपने ही बल पर जीना प्रारम्भ करना होता है। श्वास सम्बन्धी प्रक्रिया चालू हो जाती है, उसके फेफडे सकोच-विकोच करने लगते है। फलस्वरूप शिशु मे नवस्थिति जनित-भय पैदा होता है और वह रोने लग जाता है। प्रारम्भावस्था मे बालक के पास सुख-दु ख एव भय आदि जनित अपनी सभी स्थितियो की अभिव्यक्ति के लिए एक मात्र रुदन ही साधन होता है। अपने प्रथम रुदन के द्वारा बालक अपने अवतरण एव जीवित सत्ता की सूचना सबको देता है।

श्वास-नि श्वास की प्रक्रिया

श्वास प्राणियो के जीवन का एक सबल आधार है, वह उससे वायु के रूप मे प्राण ग्रहण करता है। यो तो वायु ग्रहण के लिए मनुष्य के पास अनेक साधन है। शरीर-स्थित हर रोम वायु ग्रहण करता है। यदि रोम कूप अनावृत न हो एव वायु का प्रवेश अवरुद्ध हो जाए, तो त्वचा रुग्ण तथा विकृत हो जाती है। दूसरा स्थान मुख है। अनेक व्यक्ति अज्ञानवश या स्वभाववश श्वास-ग्रहण मे मुख का प्रयोग करते है,

परन्तु वह ठीक नही होता क्योकि प्रकृति द्वारा मुख का निर्माण भोजन चबाने, रसानुभूति करने तथा बोलने के उपयुक्त ही किया गया है। श्वास-ग्रहण करने का उपयुक्त अवयव तो नाक ही है। उसकी लम्बी नलिका मे से गुजरती हुई ग्रीष्म-कालीन गरम हवा तथा शीतकालीन ठण्डी हवा आवश्यकता के अनुसार समतापीय हो जाती है। इससे जब श्वास फुफ्फुस (फेफडो) तक पहुचता है तो वह रूक्ष न होकर स्निग्ध बन जाता है। नासारन्ध्रो के प्रारम्भिक भाग मे छोटे केशो का एक जगल उगा होता है। प्रकृति के वन-विभाग ने बाहर के रेगिस्तान को अन्दर घुसने से रोकने के लिए इसे लगाया है। यह वायु को छानता है। श्वास लेते समय वायु के साथ आने वाले रजकणो को आगे बढने से रोकता है। इस जगल से आगे जो समतल भाग आता है, वह श्लेष्म की चिकनी पर्त से गीला रहता है। केशो के जगल से बचकर जो रजकण या कीटाणु आगे बढते है, वे यहा चिपक कर रह जाते है। इस प्रकार नासारध्र से आगे बढती हुई वायु कठ, टेटुआ और स्वर-यत्र को लाघकर श्वास नलिका के माध्यम से फुफ्फुस मे पहुचती है। ये फुफ्फुस (फेफडे) हसली की हड्डी के पीछे नीचे की ओर फैले हुए होते है। ये दो होते है। स्पज की तरह इनमे सकोच-विकोच की स्वाभाविक क्षमता होती है। इनमे सोलह करोड से लेकर अठारह करोड तक प्रकोष्ठ (कोटर) बने हुए होते है। श्वास के द्वारा अन्दर खीची गयी वायु इन प्रकोष्ठो मे फैल जाती हे। वहा की सूक्ष्म आतरिक प्रक्रिया के द्वारा वायु का वह अश, जिसे प्राण वायु (ऑक्सीजन) कहते है, सोख लिया जाता है। गृहीत प्राण वायु शरीर मे व्याप्त होकर नस-नाडियो के माध्यम से विभिन्न अवयवो मे कार्यरत हो जाती है, शेष वायु कार्बनडाइआक्साइड के रूप मे दूषित एव अनावश्यक कणो के साथ बाहर फेक दी जाती है।

श्वास की मात्रा

व्यक्ति इतना कम श्वास लेता हे कि फेफडे के पूरे प्रकोष्ठ कभी शायद ही भर पाते हो। उनकी क्षमता प्राय छह लीटर तक वायु ग्रहण करने की होती है पर व्यक्ति बहुधा एक या दो लीटर मे आगे नही बढता। इसलिए प्राणायाम का अभ्यास करने वालो को सिखाया जाता हे कि वे श्वास लम्बा ले। प्रलम्ब श्वास-विधि को अपना लेने के बाद व्यक्ति यह अनुभव करता है कि जितना श्वास वह पहले लेता था अब उससे तीन-चार गुना अधिक ग्रहण कर रहा है। अधिक प्राण वायु ग्रहण करने से उसकी प्राण-शक्ति बढ जाती है। फलत इन्द्रिया तेजस्वी हो जाती हे। आकृति पर अधिक ओज, शरीर मे अधिक स्फूर्ति और बल का अनुभव होने लगता हे। कार्य-शक्ति भी वृद्धिगत हो जाती है।

श्वास के प्रकार

योग की भाषा मे श्वास के तीन प्रकार है—

१ पूरक

२ रेचक

३ कुम्भक

पूरक अर्थात् वायु को अन्दर खीचना, रेचक अर्थात् प्रश्वास के रूप मे वायु को बाहर फेकना, कुम्भक का अर्थ है—श्वास का सयम करना।

प्राण-शक्ति का उपयोग

वायु के अनेक नामो मे एक है—महाबल। वस्तुत वायु के बल का अनुमान लगा पाना कठिन है। भीम को वायु-पुत्र कहा जाता था। उनका शारीरिक बल अपार था, दूसरे व्यक्ति जिस वस्तु को हिला भी नही सकते थे, भीम उसे उठाकर दूर फेकने की शक्ति रखते थे। व्यक्ति किसी भारी वस्तु को उठाता है तब पहले सहज ही अपने मे पूरा श्वास भरता है। कुम्भक अवस्था मे ही भार उठाना उसके लिए सरल होता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं—'बल-प्रकर्ष पवनेन वर्ण्यते' अर्थात् बल-प्रकर्षता की तुलना वायु से की जाती है। वायु-ग्रहण मे अर्जित शक्ति के आधार पर व्यक्ति छाती पर हाथी को खडा करवा सकता है। छाती पर रखी शिला को हथौडो से तुडवा सकता है। कार से बधा रस्सा पकडकर पूरे वेग से दौडाए जाने पर भी उसे एक इच भी आगे सरकने से रोक सकता है। ये सब चमत्कार कुछ ही दशक पूर्व प्रो० राममूर्ति दिखला चुके है। ये सब प्राणायाम द्वारा प्राप्त शक्ति के स्थूल एव भौतिक चमत्कार है। यही शक्ति जब आध्यात्मिकता के साथ जुडती है तभी वास्तविक साधना का क्रम प्रारम्भ होता है। प्राण-शक्ति के जागरण का यही उपयोग वाछनीय है। उसे चमत्कारो तथा प्रदर्शनो मे खपाना उसका दुरुपयोग है। वह तो करने वाले पर निर्भर है कि अपनी अर्जित शक्ति का उपयोग किस प्रकार से करे। देश की स्वतन्त्रता से पूर्व की घटना है। कलकत्ता मे काग्रेस का अधिवेशन था। किसी विषय पर नेताओ मे मतभेद था। बहस चली, गरमा-गरमी हुई और फिर हाथापाई की नौबत आ गयी। एक-दूसरे पर प्रहार करने मे जूतो और कुर्सियो का प्रयोग तो हुआ ही, यहा तक कि सूत कातने के काम आने वाली तकली भी प्रहार का साधन बन गया। उसके विपरीत गोबर एव कूडे-करकट आदि से जो खाद बनायी जाती है, वह मलिन पदार्थो का सदुपयोग है।

आवश्यक है मार्गदर्शन

प्रधान प्रश्न प्राण-शक्ति का सदुपयोग यही है कि उसे नियोजे। और लयबद्धता से

संवलित करते हुए पूर्ण जागरूकता रखे और ऊर्जा को ऊर्ध्वता की ओर ले जाए। इसी से चेतना का ऊर्ध्वीकरण होता है। चेतना का ऊर्ध्वीकरण ही आध्यात्मिक प्रगति का मापदण्ड है।

मूर्च्छित या सुप्त चेतना को सावधान या जागृत करने के लिए ही प्राणायाम का अभ्यास आवश्यक है। सामान्य रूप से तो यह अभ्यास स्वत ही किया जा सकता है, पर विशेष अभ्यास के लिए किसी योग्य व्यक्ति के मार्ग-दर्शन मे ही किया जाना लाभदायक है, क्योकि अविधि से किए जाने पर कई प्रकार की शारीरिक एव मानसिक क्षतियो की भी सम्भावना रहती है।

मानसिक शान्ति और धारणाओं का रंग

शान्ति क्या है ?

शान्ति मनुष्य के लिए काम्य है। अशान्ति आग के समान होती है। वह दूर-दूर तक के वातावरण को उत्तप्त बना डालती है। उत्तप्त वातावरण मे रहकर कभी कोई शीतल या शान्त कैसे रह सकता है ? भगवान् महावीर ने कहा है—'संति मग्ग च बूहए' अर्थात् 'शान्ति के मार्ग की उपबृंहणा करो'। प्रश्न किया जा सकता है कि शान्ति क्या है और उसकी उपबृंहणा कैसे की जा सकती है ? उत्तर है—उद्विग्नता-हीन मानसिक स्थिति का नाम शान्ति है, उसकी उपबृंहणा हम अपने मन की धारणाओ को बदल कर या उसे सुस्थिर बनाकर कर सकते हैं।

अशान्ति वास्तव मे नही होती है तो भी अपनी अज्ञानता के कारण हम उसे मान लेते हैं और तब सारा जीवन अशान्त हो जाता है।

धारणाओ का रंग

जब-जब उद्वेग की हवा चलती है, तब-तब हमारे मन का सरोवर आन्दोलित और उद्वेलित हो उठता है। उद्वेग हमारी धारणाओ का आधार पाकर पनपता है। कोई भी घटना या स्थिति हमारी धारणाओ के अनुरूप ही हमारे मन पर प्रभाव छोड़ती है। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि हमारी प्राय: सभी अनुभूतियां हमारी धारणाओ के रंग मे रंगी होती हैं। फलत हमें अनुभूति का सत्य नही, किन्तु धारणा का सत्य प्राप्त होता है, जो कि बहुधा असत्य ही होता है। अग्रोक्त घटना के प्रकाश मे इसे सुस्पष्ट समझा जा सकता है। दो यात्री रेल के एक डिब्बे मे बैठकर यात्रा कर रहे थे। एक खिड़की के निकट बैठा था तो दूसरा उससे कुछ दूर डिब्बे के बीच मे। गाड़ी ने रफ्तार पकड़ी तो बीच वाले व्यक्ति ने उठकर खिड़की को बन्द कर दिया। किनारे वाला व्यक्ति दो मिनट तो चुप रहा। फिर उसने झटाक से खिड़की को खोल दिया।

वीच वाले व्यक्ति ने उसे रोकते हुए कहा—'क्या कर रहे हो ? हवा के ठढे झोके मुझे परेशान कर रहे है। खिडकी को वन्द कर दो।'

किनारे वाला युवक तुनककर वोला—'खिडकी को खुला रखना होगा, वन्द होने पर मेरा दम घुटता है।'

उस व्यक्ति ने उसके कथन पर कोई ध्यान नही दिया और उठकर पुन खिडकी को वन्द कर दिया। वह वैठ भी नही पाया था कि किनारे वाले ने उसे पुन खोल दिया। यो एक व्यक्ति खिडकी को वन्द करता रहा और दूसरा उसे पुन खोलता रहा। झगडा चलता रहा। कई स्टेशन पार हो चुकने पर जब उस डिव्वे मे टी० टी० आया, तव दोनो ने ही शिकायत की। टी० टी० खिडकी की वास्तविकता को जानता था। वह मुस्कराया और वोला—'आप व्यर्थ मे झगड रहे है। पहले खिडकी को तो अच्छी तरह से देख लीजिए।' खिडकी को देखा तो पता चला कि उसमे काच है ही नही। दोनो को अपनी धारणा की ही ठड या गरमी लग रही थी। पूर्व धारणा का रग उडते ही वास्तविकता का भान हुआ और वे अपने स्थान पर शान्ति से वैठ गये। वे पहले भी शान्ति से वैठ सकते थे, परन्तु दोनो की एक-एक धारणा थी और तज्जन्य उद्वेग था, जो कि मन के सरोवर मे अशान्ति का विष घोले जा रहा था। लडाई उसी विष का परिणाम थी।

उत्तम रग

हमने अपनी अनुभूतियो के लिए एक प्रकार से सीमाए निर्धारित कर दी है, अत उनसे वाहर जाकर सोचने एव समझने की वात वडी अटपटी लगने लगी है। धारणाओ के रग मे रगे विना घटनाए या स्थितिया रगहीन, दूसरे शव्दो मे कहे तो आनन्द-हीन अनुभव होने लगती है। परन्तु यह भी तो एक धारणा ही है। यदि हम हर अनुभूति को अपनी धारणा के रग मे ही देखना चाहते है तो उसे काले या कुत्सित रग मे ही क्यो रगे, दूसरे रग भी तो वहुत है, जो उत्तम और सुन्दर होते है। यदि हम अपनी धारणा की दिशा को वदल दे तो हमे दूसरे ही प्रकार की अनुभूतिया होने लगेगी। वे हमे गिरने से तो वचायेगी ही, ऊपर भी उठायेगी।

ठोकर लगने पर हमे प्राय दु खानुभूति होती है, गाली सुनकर क्रोध आता है, मन के विपरीत कार्य होने पर क्षोभ होता है। कारण स्पष्ट है। यह सव मन की पूर्व निर्धारित धारणाओ के आधार पर ही होता है। यदि हम चाहे तो ऐसी अनुभूतियो को दूसरा रग भी दे सकते है। हम सोच सकते है कि अच्छा हुआ,

ठोकर मे ही वच गये, इससे अधिक भी वहुत कुछ हो सकता था। यह तर्क हम अपने प्रत्येक अभाव और अलाभ के प्रति भी दे सकते हैं। हमे तव अनुभव होगा कि कष्ट की जहा असीमित सम्भावनाए हैं, वहा हमे सीमित मात्रा मे ही मिला। सापेक्ष सम्भावना-जन्य यह अनुभुति हमारे लिए दु खानुभूति न होकर सुखानुभूति होती है और रक्षा-कवच वनकर टूटने से वचा लेती है।

अपना दर्शन, अपने द्वारा

पर-दर्शन की वृत्ति

मनुष्य के पास आखे है, परन्तु स्वभावत ही वे अन्य वस्तुओ को तो देख पाती है, किन्तु अपने आपको नही देख पाती। आखो के स्वामी स्वय मनुष्य का स्वभाव भी ऐसा ही है। आखे सम्भवत उसी के स्वभाव का प्रतिनिधित्व करती है। मनुष्य अपने अतिरिक्त अन्य सभी को जानने मे जितनी रुचि रखता है, उससे शताश भी अपने को जानने मे नही रखता। अपनी ओर झाकने मे सम्भवत उसे भय लगता है। अपनी सम्भावित विरूपता और नग्नता ही उस भय का कारण हो सकती है। अपनी इस निर्बलता को ढाकने के लिए ही वह प्राय दूसरो की कमियो को गिनाता रहता है ताकि स्वय की कमिया उसे कचोटे नही। उनसे अनभिज्ञ रहने, उनकी ओर से आखे मूद लेने को ही वह अपने लिए श्रेयस्कर मानता है।

रोग को भुला देना ही रोग से छुटकारा पाना नही है। उसे भुलाया या झुठलाया जाएगा, तो उसके बढते जाने की ही सम्भावना अधिक है। रोग को मिटाना है, तो पहले उसे तथा उसके कारणो को जानना आवश्यक है और फिर उपचार को जानना और करना होगा। अपने उपचार के लिए अपने ही रोग को जानना होता है। दूसरे के रोग को जान लेने से अपने रोग मे तनिक भी अन्तर नही आ पाता।

अपनी ओर झाके

मनुष्य बहुत लम्बे समय से दूसरो के रोगो को, कमियो को जानने मे रुचि लेता रहा है, पर अब अपने रोग को जानने और उसका प्राथमिकता से उपचार करने का अवसर आ गया है। यदि कोई यह कहता है कि मेरे से कही अधिक रोग-ग्रस्त दूसरे है, अत उनका उपचार पहले अपेक्षित है, तो यह एक दृष्टि-भ्रम ही कहा जाएगा। यदि सत्य भी हो, तो भी उसका उपचार उसी के द्वारा सम्पन्न होगा,

अन्य किसी के द्वारा नही, अत अपने को देखना, अपना उपचार करना ही श्रेयोमार्ग है। अपना रोग या अपना दोप बहुत साधारण या बहुत छोटा लगता हो, तो उस ज्ञान को वास्तविक मानकर प्राय खतरा ही मोल लिया जाता है। बहुधा अपना दोप स्वय को जितना छोटा लगता है, उससे वह बहुत बडा होता है। समुद्रतल पर बहने वाली बर्फ की चट्टान बाहर से जितनी दिखाई देती है, उससे कई गुना जल के अन्दर होती है। इसीलिए अपने लिए आत्म-दर्शन की प्रक्रिया निरन्तर चालू रहनी चाहिए। दूसरो के दोपो को देखते रहने का अभ्यस्त मनुष्य बहुधा अपने दोपो को देखना भूल जाता है। यदि एक बार भी वह स्वय के अन्दर झाक कर देख ले, तो निश्चय ही फिर दूसरो के अन्दर झाकना भूल जाएगा। दूसरो से अपने को अच्छा या उत्कृष्ट समझने की भूल भी फिर सम्भवत नही करेगा।

शिष्य का निवेदन

एक योगी ने अपनी साधना के द्वारा अनेक चामत्कारिक शक्तिया उपार्जित कर ली। चमत्कार को नमस्कार करने वाली दुनिया मे चारो ओर उसके भक्त ही भक्त हो गए। वे जहा जाते, लोगो की भीड लग जाती। उनकी वैयक्तिक सेवाओ के लिए उनके पास एक अन्य संन्यासी शिष्य था। वह साधना मे तो नहीं, परन्तु उनकी सेवा करने मे सदा तत्पर रहता। कालान्तर मे योगी वृद्ध हो गए। सेवाभावी सन्यासी ने तब उनसे कहा—'भगवन्! आपके पास तो इतने लोग आते है और आपका इतना महत्त्व है। परन्तु पीछे से मुझे कौन पूछेगा? मुझे कोई ऐसा चमत्कार सिखा दीजिए ताकि आपके शिष्य के अनुरूप मेरी भी पूछ होती रहे।'

गुरु का अवदान : शिष्य का प्रयोग

गुरु ने अपने झोले मे से निकाल कर एक डडा दिया और कहा कि यह अपने पास रखो। इसका अगला सिरा जिसकी ओर कर दोगे, उसके मन को तुम स्पष्ट पढ सकोगे, उसके अन्दर जो भी अच्छा-बुरा होगा, वह सब तुम्हारे सामने स्पष्ट आ जाएगा।

शिष्य ने डडा अपने हाथ मे ले लिया। प्रयोग करके देखने की इच्छा बलवती हुई। वहा और कोई तो था नही, अत उसकी नोक को गुरु की ओर ही घुमा दिया। उसी क्षण गुरु का समग्र अन्तरग उसको अपनी हस्त-रेखा के समान स्पष्ट दिखाई देने लगा। उसने देखा—गुरुजी के मन के एक कोने मे काम-क्रोध आदि दुर्गुणो के कुछ कीडे कुलबुला रहे है। अपने गुरु को उसने सदैव भगवन् तुल्य पवित्र समझा था। आज उनके मन की मलिनता को देखकर उसका मन वितृष्णा से भर उठा।

स्वय को देखें

गुरु ने उसके मनोभावो को भाप लिया। उन्होने कहा—'वत्स! जरा डडे के अग्रभाग को अपनी ओर भी मोडो?'

शिष्य ने कहा—'मै अपनी ओर क्यो मोडू? मैने तो अपना सारा जावन आपकी सेवा मे ही समर्पित कर रखा था। मेरे सामने तो कार्य ही इतना रहता था कि काम, क्रोध आदि को वहा उत्पन्न होने का कोई अवसर ही नही था।'

गुरु ने कहा—'फिर भी देख लेने मे क्या आपत्ति है?'

शिष्य ने बडे आत्म-विश्वास के साथ डडे के अग्र भाग को अपनी ओर किया। ज्यो ही उसने अपने अन्दर झाककर देखा, उसके आश्चर्य का पार नही रहा। वह तो स्वय को परम पवित्र मान रहा था, परन्तु वहा तो मन मे सर्वत्र न जाने कितने प्रकार के कीडो से स्थान सकुल हो रहा था!

उस आत्म-दर्शन के साथ ही उसका घमण्ड चूर-चूर हो गया। गुरु-चरणो मे नत होकर उसने स्वय को सदा के लिए सुधार लिया।

इसीलिए कहा जा सकता है कि स्वय के अन्दर झाककर देखना सर्वाधिक आवश्यक है, अन्यथा मन में आत्म-गौरव की जो अनेक निरर्थक भ्रातिया पनप रही होती है, वे टूट नही पाती। अपने ही द्वारा जब अपने दर्शन की तैयारी की जाती है, तभी वास्तविकता के दर्शन की तैयारी होती है और तभी व्यक्ति के अन्दर छिपी भगवत्ता के दर्शन भी सहज हो जाते है।

अन्य किसी के द्वारा नही, अत अपने को देखना, अपना उपचार करना ही श्रेयोमार्ग है। अपना रोग या अपना दोष बहुत साधारण या बहुत छोटा लगता हो, तो उस ज्ञान को वास्तविक मानकर प्राय खतरा ही मोल लिया जाता है। बहुधा अपना दोष स्वय को जितना छोटा लगता है, उससे वह बहुत बडा होता है। समुद्रतल पर बहने वाली बर्फ की चट्टान बाहर से जितनी दिखाई देती है, उससे कई गुना जल के अन्दर होती है। इसीलिए अपने लिए आत्म-दर्शन की प्रक्रिया निरन्तर चालू रहनी चाहिए। दूसरो के दोपो को देखते रहने का अभ्यस्त मनुष्य बहुधा अपने दोपो को देखना भूल जाता है। यदि एक बार भी वह स्वय के अन्दर झाक कर देख ले, तो निश्चय ही फिर दूसरो के अन्दर झाकना भूल जाएगा। दूसरो मे अपने को अच्छा या उत्कृष्ट समझने की भूल भी फिर सम्भवत नही करेगा।

शिष्य का निवेदन

एक योगी ने अपनी साधना के द्वारा अनेक चामत्कारिक शक्तिया उपार्जित कर ली। चमत्कार को नमस्कार करने वाली दुनिया मे चारो ओर उसके भक्त ही भक्त हो गए। वे जहा जाते, लोगो की भीड लग जाती। उनकी वैयक्तिक सेवाओ के लिए उनके पास एक अन्य सन्यासी शिष्य था। वह साधना मे तो नहीं, परन्तु उनकी सेवा करने मे सदा तत्पर रहता। कालान्तर मे योगी वृद्ध हो गए। सेवाभावी सन्यासी ने तब उनसे कहा—'भगवन्! आपके पास तो इतने लोग आते हैं और आपका इतना महत्त्व है। परन्तु पीछे से मुझे कौन पूछेगा? मुझे कोई ऐसा चमत्कार सिखा दीजिए ताकि आपके शिष्य के अनुरूप मेरी भी पूछ होती रहे।'

गुरु का अवदान : शिष्य का प्रयोग

गुरु ने अपने झोले मे से निकाल कर एक डडा दिया और कहा कि यह अपने पास रखो। इसका अगला सिरा जिसकी ओर कर दोगे, उसके मन को तुम स्पष्ट पढ सकोगे, उसके अन्दर जो भी अच्छा-बुरा होगा, वह सब तुम्हारे सामने स्पष्ट आ जाएगा।

शिष्य ने डडा अपने हाथ मे ले लिया। प्रयोग करके देखने की इच्छा बलवती हुई। वहा और कोई तो था नही, अत उसकी नोक को गुरु की ओर ही घुमा दिया। उसी क्षण गुरु का समग्र अन्तरग उसको अपनी हस्त-रेखा के समान स्पष्ट दिखाई देने लगा। उसने देखा—गुरुजी के मन के एक कोने मे काम-क्रोध आदि दुर्गुणो के कुछ कीडे कुलबुला रहे हैं। अपने गुरु को उसने सदैव भगवत् तुल्य पवित्र समझा था। आज उनके मन की मलिनता को देखकर उसका मन वितृष्णा से भर उठा।

स्वय को देखें

गुरु ने उसके मनोभावो को भाप लिया। उन्होने कहा—'वत्स! जरा डडे के अग्रभाग को अपनी ओर भी मोडो?'

शिष्य ने कहा—'मै अपनी ओर क्यो मोडू? मैने तो अपना सारा जीवन आपकी सेवा मे ही समर्पित कर रखा था। मेरे सामने तो कार्य ही इतना रहता था कि काम, क्रोध आदि को वहा उत्पन्न होने का कोई अवसर ही नही था।'

गुरु ने कहा—'फिर भी देख लेने मे क्या आपत्ति है?'

शिष्य ने बडे आत्म-विश्वास के साथ डडे के अग्र भाग को अपनी ओर किया। ज्यो ही उसने अपने अन्दर झाककर देखा, उसके आश्चर्य का पार नही रहा। वह तो स्वय को परम पवित्र मान रहा था, परन्तु वहा तो मन मे सर्वत्र न जाने कितने प्रकार के कीडो से स्थान सकुल हो रहा था!

उस आत्म-दर्शन के साथ ही उसका घमण्ड चूर-चूर हो गया। गुरु-चरणो मे नत होकर उसने स्वय को सदा के लिए सुधार लिया।

इसीलिए कहा जा सकता है कि स्वय के अन्दर झाककर देखना सर्वाधिक आवश्यक है, अन्यथा मन में आत्म-गौरव की जो अनेक निरर्थक भ्रातिया पनप रही होती है वे टूट नही पाती। अपने ही द्वारा जब अपने दर्शन की तैयारी की जाती है, तभी वास्तविकता के दर्शन की तैयारी होती है और तभी व्यक्ति के अन्दर छिपी भगवत्ता के दर्शन भी सहज हो जाते है।

अनुशासन : एक समस्या

मानव जाति के विकास-क्रम मे एक युग ऐसा भी था, जिसमे मनुष्य एकाकी रहता था और शिकार के आधार पर जीवन-यापन करता था। वह युग सख्यातीत वर्ष पूर्व का था। उस समय तक मानव-सभ्यता का विकास अकुरित नही हुआ था कालान्तर मे प्राकृतिक प्रेरणा ने उसे सामूहिक जीवन की ओर अग्रसर किया। सुरक्षा की भावना भी ऐसा करने मे उसके लिए सहायक थी। 'एकोऽहं बहु स्याम्' का ईश्वरीय सकल्प मानवीय सकल्प का ही प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है। अकेला रहने वाला मनुष्य धीरे-धीरे समाज बनाकर रहने का अभ्यस्त हो गया।

एकाकी जीवन पद्धति

एकाकी जीवन-पद्धति से सामष्टिक जीवन-पद्धति मे आने पर मानव-जाति को जहा अनेक सुविधाए प्राप्त हुई, वहा उसे अनेक दुविधाओ का भी उपहार मिला। उसकी क्षमताए तो बढी, पर साथ ही विवशताए भी बढ गई। एकाकी के लिए मन ही सर्वोपरि सविधान होता है। करणीय और अकरणीय का निर्णय वही करता है। प्रत्येक विधि और निषेध उसी की आकाक्षाओ के इगित बनकर चलते है। उस स्थिति मे न किसी स्थिर सिद्धान्त की अपेक्षा होती है और न किसी प्रदत्त आदर्श के प्रकाश की। जो चाहा, वह किया और जो नही चाहा, वह नही किया। यही उस समय का सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त या आदर्श कहा जा सकता है। परन्तु सामष्टिक जीवन मे किसी भी एक व्यक्ति की मनमानी नही चल सकती। वहा दूसरे की भावनाओ, इच्छाओ तथा सुख-सुविधाओ का ध्यान रखना आवश्यक ही नही, अनिवार्य हो जाता है। उस स्थिति मे दूसरो के लिए अपनी सुविधाओ का आशिक परित्याग भी करना पडता है।

सामाजिक जीवन : स्वार्थ की सीमा

[illegible] जीवन के उस उष काल मे प्रथम बार जब किसी मनुष्य ने किसी दूसरे [illegible] होता था [illegible] गया, तभी से अनुशासन का जन्म

हुआ। पर-हित मे बाधक बनने वाले स्वहित का स्वेच्छया परित्याग तभी किया जा सकता है, जबकि अपनी भावनाओ पर अपना निन्यत्रण स्थापित किया गया हो। प्रारम्भ मे यह अनुशासन पारस्परिक प्रेम के आधार पर किया जाता रहा, परन्तु ज्यो-ज्यो सामूहिकता का दायरा बढा, त्यो-त्यो स्वहित के परित्याग की अधिकाधिक आवश्यकता होती गई। आखिर उस त्याग से मनुष्य मुह चुराने लगा। उसका प्रयास होने लगा कि स्वय उसको कम-से-कम त्याग करना पडे, परन्तु दूसरो के त्याग का फल भोगने का अवसर अधिक-से-अधिक मिलता रहे। यह भावना त्याग की भावना के समान सामूहिक-जीवन के लिए हितकर नही थी। इसमे परार्थ या परमार्थ के स्थान पर केवल स्वार्थ का ही प्राधान्य था।

अनुशासन पहला कदम

दुर्भावना छूत के रोग के समान होती है। उसके कीटाणु बहुत शीघ्र दूसरो तक पहुच जाते है। फलत प्रत्येक मनुष्य की भावना मे वे ही विचार उभरने लगे। जब हर एक अपने आपको त्याग से बचाने लगा और दूसरो के त्याग का उपभोग करने को उत्सुक रहने लगा, तो अव्यवस्था और आपा-धापी होने लगी। उस स्थिति मे स्वेच्छया अनुशासन की वृत्ति को फिर से जागरित करने के लिए समूह के प्रभावक व्यक्तियो ने मिलकर कुछ सीमाए निर्धारित की, जो सबके लिए समान रूप से स्वीकार्य हुई। यही से अनुशासन की वृत्ति को एक स्वरूप मिलना प्रारम्भ हुआ।

राजतंत्र की स्थापना

सर्व स्वीकृत नियमावली ने व्यक्ति को वैयक्तिकता की भूमि से उठाकर सामाजिकता की भूमि पर ला खडा किया। साथ ही स्वेच्छा के स्थान पर बाध्यता का भी प्रवेश हुआ और नियम पालन न करने वालो के लिए दण्ड की व्यवस्था की गयी। कालान्तर मे नियम-पालन और दण्ड की सुव्यवस्था के लिए राजतन्त्र की स्थापना हुई। इस प्रकार समय के साथ-साथ अनुशासन के आकार, प्रकार और आधार आदि मे अनेक परिवर्तन आते रहे। उसका स्वरूप नदी के उस स्वरूप की तरह विराट होता गया, जो कि अपने प्रारम्भ काल मे मात्र एक पतली-सी धारा होती है। आज के ये भारी-भरकम सविधान और ये प्राणान्तक दण्ड-सहिताए इस बात को पूर्णत. प्रमाणित कर देती है।

अनुशासन की सीमा

आजकल प्राय कहा जाता है कि हर स्थान पर अनुशासन-हीनता फैल रही है। यह स्थिति आज की एक बृहत्तम समस्या बन गयी है। इसको हल करने के लिए इसके कारणो की तह तक पहुचना अत्यन्त आवश्यक है। क्या आज मानवीय

प्रगति के लिए पहले की तरह अनुशासन की आवश्यकता नही रह गयी है ? इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि जब तक मनुष्य समाज बनाकर रहता रहेगा, तब तक अनुशासन की आवश्यकता किसी भी प्रकार से मिट नही सकती। उसको हर स्थिति मे अपनी स्वच्छन्दता पर अकुश लगाकर ही रहना पडेगा। समाज को पूर्णत छोडकर गुहा-मानव के युग मे पुन चला जाना उसके लिए अब किसी भी प्रकार से सम्भव नही है, वाछनीय भी नही है। तब फिर यह प्रश्न सामने आता है कि आखिर यह अनुशासन-हीनता फैलती क्यो जा रही है ? इस प्रश्न के साथ ही मेरे मन मे एक नया प्रश्न उठ आता है कि कही स्वय अनुशासन ही तो अनुशासन-हीन नही बन गया है ? मुझे अपने पहले प्रश्न से यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है। ज्यो-ज्यो इस पर सोचता हू, त्यो-त्यो यही अधिक सही लगता है कि अनुशासन को भी अपनी सीमाए रखनी चाहिए। अन्यथा उसके प्रति पालक अनुशासन-हीन बनेंगे ही। वर्तमान के सविधान की ओर दृष्टिपात करने से यह तथ्य सम्भवत अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

नियमो का जाल

कहा तो यह जाता है कि जिस राज्य-सत्ता मे नियम कम से कम होते है, वही सर्वोत्तम होती है, परन्तु कार्य-व्यवहार मे इससे बिल्कुल उलटा हो रहा है। जिन नियमोपनियमो को मनुष्य ने कभी सिर का मुकुट मानकर धारण किया था, आज वे बढते-बढते सिर का भार बन गये है। भार भी इतना कि वाहक उसके नीचे दबकर पिस जाए। नियमावली के इस जाल मे इतना झाड-झकाड उग आया है कि आगे बढने का कोई निरापद मार्ग तो दूर, कोई पगडडी भी दृष्टिगत नही होती। ऐसी विषम स्थिति मे जिसको जिधर से ठीक लगता है, वह उधर से ही अपना मार्ग खोजता है, नयी पगडडी निकालता है और उसी को सही सिद्ध करने वाले वकील खडे करता है। आज की अनुशासन-हीनता मे अन्य अनेक कारणो के साथ यह एक बहुत बडा कारण मुझे प्रतीत होता है, जो कि औरो के द्वारा प्राय उपेक्षित कर दिया जाता है।

कोढ में खाज

जनता मे यदि अनुशासनशीलता की अपेक्षा की जाती है, तो उसके पूर्व अनुशासक के लिए यह अत्यन्त आवश्यक होगा कि वे सविधान को 'अगम्य' होने से बचाए। विधि-निषेधो और उनके अपवादो की भरमार मे जो अगम्यता है, उसके साथ ही जन-भाषा की उपेक्षा और जनता की अशिक्षा ने कोढ मे खाज का काम किया है। जो अभी तक ठीक-ठीक जाना ही नही गया है, उसका पालन कैसे किया जा सकता है ?

चिन्तनीय प्रश्न

मनुष्य की कर्मण्यता और नव प्रेमिता के चारो ओर जब प्रतिबन्धो की दीवारे उठने लगती है, ऐसी विवशता की स्थिति मे अनुशासनशीलता के स्थान पर अनुशासन-हीनता को हो पनपने का अधिक अवसर मिलता है। जब तक ऐसी विवशता नही आती, तब तक प्राय अनुशासन का विरोध कोई नही करता।

सख्यातीत वर्षो से अनुशासन से परिचित मानव-जाति के लिए आज अनुशासन नयी वस्तु नही है। वह अनुशासन पर श्रद्धा रखकर ही चलती है। राष्ट्र, समाज, धर्म, गुरुजनो और परिजनो के अनेकविध अनुशासनो मे सन्तुलन बिठा लेने मे उसे कोई कठिनाई नही होती। भारतीय जनता के लिए तो यह सन्तुलन बिठाना अपेक्षाकृत और भी सरल है, क्योकि वह स्वभावत अधिक कोमल और विनीत रही है। यहा की जनता के लिए जब यह प्रश्न उठाया जाता है कि वह अनुशासन-हीन होती जा रही है, तो अवश्य ही चिन्तनीय हो जाता है।

दोष किसका है?

अनुशासन-हीनता का दोष यहा प्राय वर्तमान पीढी के युवको तथा छात्रो पर लगाया जाता है, पर यह कैसे कहा जा सकता है कि यह दोष मात्र उन्ही का है। मेरी धारणा है कि उनका उतना दोष नही है, जितना कि उनके मार्ग-दर्शको या अभिभावको का है। युवको और छात्रो मे जोश होता है, नया रक्त कुछ कर दिखाने को लालायित रहता है। ऐसी स्थिति मे यदि उन्हे ठीक मार्ग-दर्शन मिले तो वे समाज और राष्ट्र के लिए बडे उपयोगी हो सकते हैं। समुचित मार्ग-दर्शन के अभाव मे उनकी शक्ति का उपयोग ऐसे व्यक्ति करने लगते है, जो समाज के लिए घातक होते है। वे युवक-शक्ति को गलत मार्ग की ओर मोडकर अपनी नेतृत्व की भूख को तृप्ति प्रदान करते हैं। युवक ऐसे लोगो के प्रभाव मे आकर अपनी शक्ति का उपयोग करने का अवसर तो प्राप्त कर लेते है, परन्तु अपरिपक्व होने के कारण वे शीघ्रता से यह निर्णय नही कर पाते कि उनकी शक्ति का बहाव अच्छाई की ओर हो रहा है या बुराई की ओर? मेरा विश्वास है कि युवा-शक्ति के उपयोगार्थ यदि शासन के पास प्रचुर क्षेत्र हो और यथासमय उन्हे उचित मार्ग-दर्शन मिलने लगे, तो अनुशासन-हीनता की शिकायत स्वत ही समाप्त हो जाए। मार्गदर्शको के पास इतनी शक्ति अवश्य होनी चाहिए, जिससे वे युवको मे यह विश्वास उत्पन्न कर सके कि निर्दिष्ट मार्ग ही उनके लिए सर्वोत्कृष्ट है। यदि इतना किया जा सका, तो शक्ति का सदुपयोग होने के साथ-साथ उच्च नागरिको के निर्माण का कार्य भी स्वत सम्पन्न हो जाएगा।

सर्वोत्कृष्ट अनुशासन

अनुशासन किसी पर थोपा नही जा सकता, परन्तु अनुशासन के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की जा सकती है। तब वह अनुशासन ऊपर से आया हुआ नही रह जाता। स्वय व्यक्ति उसे अपने लिए हितकर एव आवश्यक मानकर स्वीकार करता है। वैसा अनुशासन चाहे राजसत्ता की ओर से, चाहे समाज की ओर से तथा चाहे धर्म की ओर से आये, वस्तुत वह उसका अपना बन जाता है। अपना अनुशासन पालने मे कभी किसी को कोई बाधा नही होती। अध्यात्म की भाषा मे ऐसे अनुशासन को आत्मानुशासन कहा जाता है। यही सर्वोत्कृष्ट अनुशासन है। इसकी स्थापना से अनुशासन-हीनता का प्रश्न सदा के लिए समाहित हो जाएगा।

दिशा-बोध

भारतीय समाज मे विवाह सस्कार को सर्वाधिक मगलमय कार्य माना जाता है। पारिवारिक परम्परा को आगे बढाने के लिए यह अनिवार्य और आवश्यक है। इसमे भिन्न परिवारो के भिन्न लिंगी दो व्यक्तियो—वर और वधू को समाज की साक्षी से सह-जीवन की स्वीकृति दी जाती है। उक्त अवसर पर आनन्द और उल्लास के वातावरण मे दोनो व्यक्ति पति-पत्नी के रूप मे स्नेह-सूत्र मे बध जाते हैं, साथ ही उन दोनो के परिवारो तथा मित्रजनो के मानस भी स्नेहसिक्त हो जाते है।

अभिभावको का कर्तव्य

एक नया घर बसता है। गृहस्थ-जीवन की एक नयी गाडी ससार की दौड मे सम्मिलित हो जाती है। पति-पत्नी उस गाड़ी मे दो चक्को के समान होते हैं। इसीलिए प्रत्येक विवाह के साथ यह अपेक्षा जुडी रहती है कि दोनो चक्के समान हो। माता-पिता आदि अभिभावको का मुख्यत यही कर्तव्य माना जाता है कि वे शील, गुण और वय आदि की उपयुक्त समानता देखकर ही सम्बन्ध निश्चित करें, अन्यथा चक्को मे विषमता रहेगी और गाडी समभूमि पर भी हिचकोले खाती चलेगी। सम्भव है, कोई जोर का हिचकोला उसे उलट या तोड ही डाले। वह स्थिति किसी के लिए भी शोभास्पद नही कही जा सकती।

विवाह से जुड़ी समस्या

विवाह-सस्कार की मगलमयता को आजकल की कुछ प्रवृत्तियो ने दूषित कर दिया है। फलत आनन्द और उल्लास का वातावरण चिन्ता और निराशा से घिरने लगा है। उन प्रवृत्तियो को समाज के कर्णधारो तथा समर्थ व्यक्तियो के द्वारा हतोत्साहित किये जाने के बजाय प्रोत्साहित ही किया जाता रहा है, अत मध्यमवर्ग वालो के लिए विवाह एक समस्या बनता जा रहा है। मनुष्य की वृत्ति ने विवाह को भी व्यवसाय का एक अग बना डाला है। लडके और

का मोल-तोल हो रहा है। कुछ वर्ष पूर्व बाजार मे लडकियो के भाव ऊचे थे, आज लडको के ऊंचे है।

ठहराव की कुप्रथा

लडके का पिता इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाता है। विवाह से पूर्व उसने लडके की पढाई आदि पर जितना व्यय किया होता है, उसे व्याज सहित कन्या के पिता से उगाह लेना चाहता है। वह खुल्लम-खुल्ला ठहराव करता है कि इतने रुपये दे सको, तो वात करो, अन्यथा मेरे लडके के लिए और बहुत-सी लडकिया हैं। लडकी के पीले हाथ करने की चिन्ता से दवे हुए कन्या के पिता को वह माग पूरी करनी ही होती है। स्वय के पास उतनी रकम नही होती, तो ऋण लेकर देता है, घर-वार वेचकर देता है। देता क्या है, देना पडता है। कन्या का पिता होने के कारण यह उसकी विवशता हो गयी है। ठहराव की इस कुप्रथा ने विवाह के अमृतोपम आनन्द मे विष घोल दिया है। पिता अपनी पुत्री को स्वेच्छा से देता है, वह वुरा नही है, परन्तु उसमे अनिवार्यता नही होनी चाहिए। अनिवार्यता और सौदागरी ने दहेज को ठहराव वना दिया है, जो कि सर्वथा त्याज्य है। इसी प्रकार प्रदर्शन, वृहद् भोज तथा समधी की अनेकानेक मागो के साथ जूझता हुआ कन्या का पिता एक ही कन्या के विवाह से मानसिक स्तर पर टूट-सा जाता है।

ठहराव का विरोध करें

विवाह मम्वन्धी ये समस्याए स्वल्पाधिक रूप मे भारत मे प्राय सभी क्षेत्रो तथा तवको मे व्याप्त है, परन्तु मेरे विचार से राजस्थानी समाज मे इनकी बहुत अधिक प्रवलता है। समाज-सुधारको तथा कर्णधारो का कर्तव्य है कि विवाह-सस्कार को वोझिल वना देने वाली इन प्रथाओ और रूढियो को हटाकर वे सहजता तथा मादगी को प्रश्रय देने वाले वातावरण का निर्माण करें। विवाह-सूत्र मे वधने वाले हर युवक और युवती को भी यह निश्चय करना चाहिए कि वे अपना मूल्य नहीं लगने देंगे और वाजार भाव मे विकने का विरोध करेंगे अर्थात् अपने विवाह में ठहराव नही होने देंगे।

दर्शन

वस्तु, अनुभूति और अभिव्यक्ति

वस्तु और हम

इस ससार मे यदि केवल हम ही होते, तो हमारे लिए कोई समस्या नही होती। हम न होकर केवल अन्य वस्तुए ही होती, तो भी कोई समस्या नही होती। हम और वस्तुए—दोनो होने पर भी यदि हमारे अन्दर किसी प्रकार की चेतना या जिज्ञासा नही होती, तो भी समस्या का अस्तित्व नही होता। परन्तु हम है, हमारे सदृश या विसदृश अन्य अनेक वस्तुए है, इसी प्रकार हमारी चेतना या जिज्ञासा भी है और इसीलिए अनेकानेक समस्याए भी है।

अनन्त गुणो और अनन्त पर्यायो के पिण्ड को वस्तु कहा जाता है। गुण—सहभावी धर्म, अर्थात् वह स्वभाव, जो वस्तु से कभी पृथक् नही होता। पर्याय—क्रमभावी धर्म, अर्थात् वह स्वभाव, जो वस्तु मे क्रमिकता से प्राप्त होता है और उसे पौर्वापर्य—अवस्थान्तर प्रदान करता है। ऐसी वस्तु हमारी जिज्ञासा के लिए इसलिए एक समस्या बन जाती है कि उसमे 'अर्ध नारीश्वर' की तरह अनश्वरता और नश्वरता या फिर अपरिवर्तनशीलता और परिवर्तनशीलता के रूप मे विभिन्न विरोधी धर्मो का एक विचित्र सहावस्थान है। बहिरग से वह एक प्रकार की ज्ञात होती है, तो अन्तरग से बिल्कुल दूसरे प्रकार की।

इन विपरीतताओ का समाधान हमे वस्तु के लिए नही, स्वय अपने लिए, अपनी जिज्ञासा की समाधि के लिए आवश्यक है। अन्य वस्तुओ के लिए ही क्यो कहा जाए, हमारी चेतना के सम्मुख हम स्वय भी तो एक उसी कोटि की वस्तु है। यह कितनी विचित्र बात है कि हम स्वय अपने आपके लिए कुछ प्रकाश मे है और कुछ अधकार मे। दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कहा जा सकता है कि हम स्वय अपने आपसे कुछ परिचित और कुछ अपरिचित—दोनो है।

अपूर्ण अनुभूति

जिज्ञासा की उत्प्रेरणा से हम स्वय को जानना चाहते है और उतनी ही उत्कण्ठा

से स्वय मे व्यतिरिक्त वस्तुओ को भी जानना चाहते है। हम जो है, वह है, वस्तु भी जो है, वह है, वहा तक कोई समस्या नही, परन्तु जब हम स्वय अपने आपको या वस्तु-सत्य को अपने ज्ञान का विषय बनाते है, उसकी वास्तविकता जानना चाहते है और उसके अन्तरग तक पहुचने का प्रयास करते है, तभी हमारे सम्मुख अनेकानेक समस्याए आ उपस्थित होती है आश्चर्य तो यह है कि कोई भी समस्या विषय की ओर से नही, अपितु सारी की सारी विषयी की ओर से ही उत्पन्न होती है। हमारी चेतना या ज्ञान की क्षमता ससीम ही होती है। उसकी परिधि मे विषयगत किसी भी वस्तु की नि सीम क्षमता समा नही पाती। वस्तुत चेतना या ज्ञान की यह अपूर्णता ही सारी समस्याओ का मूल है, क्योंकि इसी कारण से हमे वस्तुगत अखण्ड सत्य को उन अनेक खण्डो मे देखने को विवश होना पडता है, जो कि वास्तविक नही होते।

आगम-वाणी कहती है कि सत्य ही लोक मे सारभूत है। परन्तु हमारी चेतना की अपूर्णता ने उसकी उपलब्धि को एक समस्या बना दिया है पूर्ण चेतना पूर्ण सत्य को पा सकती है, परन्तु अपूर्ण चेतना से उसे कैसे पाया जा सकता है? हमारे लिए एक ही उपाय शेष है कि पहले अखण्ड को खण्डश जाना जाए और फिर कल्पना के धागे से जोड लिया जाए। अनेक फटे वस्त्र खण्डो को जोडकर बनाया गया परिधान हमारी चेतना की लज्जा को तो अवश्य बचा लेता है, परन्तु व्यवस्थित परिधान का सौन्दर्य कदापि प्रदान नही कर सकता।

हम चेतन है, अत चेतना की भूमि पर खडे रहकर ही वस्तु-सत्य का अनुभव कर सकते है। इस प्रक्रिया मे हमारा निर्णय वस्तु पर नही, अपितु हमारी चेतना मे वह कैसा आभासित होता है, इसी पर एक मात्र आधृत होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी चेतना जितनी पूर्ण और अनावृत होगी, सत्य उसमे उतनी ही पूर्णता मे आभासित होगा।

दो साधन

हमारे पास चेतना-व्यापार के दो साधन है——इन्द्रिया और मन। परन्तु ये बहुत ही अपूर्ण और अपर्याप्त है। चेतना की निरावृत आखें सत्य के सूर्य को प्रत्यक्ष नही देख पाती। इन्द्रिय और मन के विभिन्न रगीन काचो को मध्य मे लेकर ही उसे देखना पडता है। इस विधि से सूर्य के प्रकाश का सहस्राश भी उसमे आभासित नही हो पाता। इस प्रकार सत्य तक पहुचने मे इन्द्रिया और मन जितने साधक बनते है उससे कही अधिक बाधक बन जाते है। ये हमे वस्तु-सत्य तक न पहुचाकर अपनी अनुभूतियो को ही वस्तु-सत्य मान लेने के लिए बाध्य करते है।

इनके माध्यम से उपलब्ध अनुभव की असन्दिग्ध प्रामाणिकता कभी हो ही नही पाती। अनेक बाह्य परिस्थितिया उन्हे इतना प्रभावित कर डालती है कि

ज्ञान मे विपर्यय आ जाता है। उदाहरण रूप मे आखो को ही लीजिए। एक ही वृक्ष समीप से वहुत वडा दिखाई देता है और दूर से वहुत छोटा, जव कि हमारे समीप या दूर से उसके फैलाव पर कोई प्रभाव नही पडता। इसी प्रकार समानान्तर चलने वाली रेल की सीधी पटरियो के मध्य मे खडे होकर देखने वालो को समीप मे वे वस्तु चौडी फिर क्रमश सकरी होती हुई एक विन्दु पर मिलती हुई दिखाई देती है, जवकि सत्य यह होता है कि उनकी दूरी हर स्थान पर समान होती है। इसी प्रकार अन्य सभी इन्द्रियो के वारे मे समझा जा सकता है। सारा का सारा इन्द्रिय-ज्ञान हमारी इन्द्रिय-सापेक्ष अनुभूतियो से सम्वद्ध होता है, न कि वस्तु के मूल रूप से। इन्द्रिया जो अपने निष्कर्ष निकालती है, हम उन्हे मान लेने को वाध्य है। लेकिन यह इन्द्रियो के साथ हमारा समझौता है, वस्तु का नही। उसके साथ यह वाध्यता नही है कि इन्द्रियो की अनुभूति के अनुरूप ही वह अपने को रखे।

सतही ज्ञान

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु-सत्य को समझ पाना सहज नही, अपितु वहुत ही कठिन है। सत्य की सतह पर ही हमारी सारी शक्ति खपती रहती है। उसके अन्तरग तक प्रवेश पाने का अवसर प्राय आता ही नही। किसी मकान को देखने वाला व्यक्ति यह आशका करता ही कव है कि उसने तो केवल मकान का ऊपर वाला पलस्तर ही देखा है। वह तो साधिकार यही घोषणा करता है कि उसने उस मकान को अच्छी तरह से देखा है। सत्य के इस सतही या पलस्तर ज्ञान को मात्र व्यावहारिक या स्थूल ज्ञान ही मानना चाहिए। परमार्थ उससे वहुत दूर होता है। इन्द्रिय और मन के साधनो से हम परमार्थ तक नही, व्यवहारार्थ तक ही पहुच पाते है।

इसका यह अर्थ नही कि इन्द्रिय-ज्ञान सत्य ज्ञान नही होता। होता है, परन्तु यह भी नही कि वह पूर्ण सत्य होता है। उससे आगे भी उसी इन्द्रिय-ज्ञान सत्य का वहुत-सा अग जानने को अवशिष्ट रह जाता है। डॉक्टर रोगी के शरीर को ऊपर से देखकर जव रोग का निर्णय नही कर पाता, तव वह सूक्ष्मता से देखने के लिए अनेक प्रकार के इन्द्रियेतर यन्त्रो का प्रयोग करता है। गहराई तक देखना हो तो 'एक्स-रे' का भी प्रयोग करता है। उस प्रक्रिया से वह उसे देखता है, जिसे कोरी आखो से नही देख पाया था।

पशु का कार्य केवल उतने मात्र से चल जाता है जो कि उसे अपनी आखो से दिखाई देता है, किन्तु मनुष्य का नही। वह आखो से परे भी देखना चाहता है। वह कार्य-जगत् की स्थूलता मे ही रुक कर नही रह जाता, कारण-जगत् की खोज

मे आगे बढता है और कार्य की स्थूलता के पीछे छिपी कारण की सूक्ष्मता को जान जाता है।

सागर और गागर

दार्शनिको ने इसी स्थूलता और सूक्ष्मता के दृष्टिकोण को लेकर प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद कर दिए। एक वह प्रत्यक्ष, जो सतही या बहिरंग होता है तथा दूसरा वह, जो अन्तरंग होता है। दार्शनिक शब्दो मे उन्हे क्रमश सांव्यवहारिक और पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। प्रथम प्रत्यक्ष मे इन्द्रिय और मन के माध्यम से प्राप्त ज्ञान आता है, जबकि द्वितीय मे केवल आत्मा के माध्यम से प्राप्त अतीन्द्रिय ज्ञान।

हमारे सम्मुख सर्वांग अनुभूति की विकट समस्या इसलिए है कि इन्द्रियों और मन से ज्ञात वस्तु मे जो अज्ञातांश है और जो कि बहुलांश है, उसे जानने के लिए हमे कोई साधन उपलब्ध नही है। उपलब्ध साधनो से जितना जान सकते है, वह केवल नाममात्र को ही जानना कहा जा सकता है, क्योंकि वह बहुत अल्प होता है।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु की अखण्ड अवस्थिति को यदि हम एक सागर की उपमा दें, तो हमारे इन्द्रिय-ज्ञान की खण्डश. अनुभूति को एक घडा कह सकते हैं। सागर की विशालता के सम्मुख घडे की क्या बिसात है? सागर की इयत्ता का कोट्यंश भी घडे की समग्र इयत्ता मे बडा होता है। गागर मे सागर भर देने की बात कवि-कल्पना के अतिरिक्त और कही सत्य नही होती।

अभिव्यक्ति की क्षमता

वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता हमारी अनुभूति के लिए एक समस्या है, तो हमारी अनुभूति भी हमारी अभिव्यक्ति के लिए कोई छोटी समस्या नही है। वस्तु के सागर मे से भरी हुई अनुभूति की यह गागर भी हमारी अभिव्यक्ति के लिए एक सागर ही बन जाती है। वस्तु के साथ माध्यम-निरपेक्ष सीधे सम्बन्ध अर्थात् आत्म-ज्ञान की बात को एक क्षण के लिए अलग भी छोड दें, तो मात्र इन्द्रिय-ज्ञान की यथावस्थित अभिव्यक्ति भी हमारे लिए सम्भव नही है। कहने का तात्पर्य यह है कि जितना है, उतना जानने की और जितना जानते हैं, उतना बता पाने—शब्दों मे उतारने की क्षमता हमारे पास नही है। हम गुलाब और रजनीगन्धा की सुगन्ध को पृथक्-पृथक् जानते तो हैं, परन्तु क्या पार्थक्य है, यह किसी को समझा नही सकते। पार्थक्य ही क्यो, मूल गन्ध को समझाने के लिए भी हमारे पास शब्द नही है।

वस्तु और शब्द

वस्तु के साथ शब्द का यदि कोई सम्बन्ध है, तो वह हमारी कल्पना के माध्यम से ही है। मूलत कोई सम्बन्ध नही है। ये एक प्रकार के लेबल है, जो हमारी सुविधा के लिए हमने वस्तुओ पर चिपका दिये है। इसलिए कोई भी शब्द वस्तु का प्रतिनिधित्व नही, केवल वस्तु के प्रति हमारी अनुभूति का ही प्रतिनिधित्व करता है। तात्पर्य यह कि शब्द के द्वारा हम वस्तु की नही, किन्तु उसके प्रति अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति करते है। 'नीम कडवा है' इस वाक्य से हम इतना ही वतला सकते है कि हमारी जिह्वा को नीम के स्वाद की कैसी अनुभूति होती हे। नीम की वास्तविकता क्या है, यह उससे नही जाना जा सकता। ऊट, वकरी आदि अनेक पशुओ की अनुभूति मे वह कडवा न होकर मीठा हो सकता है। साप-काटे मनुष्य की अनुभूति मे भी वह मीठा होता है। साधारण मनुष्यो मे वह किसी को अधिक कडवा लगता है, किसी को कम। तो फिर यही कहा जा सकता है कि नीम का वास्तविक स्वाद क्या है—यह हम मे से किसी को भी ज्ञात नही है।

वास्तविकता से हम कुछ दूर तो तभी हो जाते है, जव वस्तु को हमारी अनुभूति की परिधि से देखते है। परन्तु तव और भी दूर हो जाते है जवकि उस अनुभूति के अनेक अशो मे से एक वार किसी एक को ही शब्द परिधान पहना पाते है। 'नीम कडवा है' इस वाक्य के द्वारा हम नीम-विषयक मात्र अपनी जिह्वा की ही अनुभूति व्यक्त कर पाते है, जवकि शेष इन्द्रियो की भी तद्विषयक अनुभूति हमारे पास होती है। उसके आकार, वर्ण, गन्ध, स्पर्श आदि गुणो की अनेक वातें जानते हुए भी उस वाक्य मे हम उन्हे व्यक्त नही कर पाते। उन सवकी अभिव्यक्ति के लिए हमे पृथक्-पृथक् वाक्यो का आश्रय लेना होता है। इस प्रकार किसी भी एक वस्तु विषयक गुणो की अपनी अनुभूतियो को व्यक्त करते समय हमे ढेर सारे वाक्यो का प्रयोग करना होता है। हमे वस्तुगत उन गुणो की क्रमिक अभिव्यक्ति के लिए वाध्य होना पडता है, जवकि सत्य यह होता है कि वे सव वहा युगपत् अवस्थित होते है।

शब्द कही, अर्थ कही

इतना ही क्यो, हमारी अभिव्यक्ति की और भी अनेक कमजोरिया हैं। जिस भाषा का हम प्रयोग करते है, उसमे कही एक वस्तु के लिए अनेक शब्द स्थापित है, तो क्वचित् अनेक वस्तु के लिए एक ही शब्द से काम चलाना होता है।

क्वचित् शब्द का मूलार्थ अन्य होता है और प्रयुक्त वाक्य के सन्दर्भ मे वह कुछ अन्य ही अर्थ प्रकट करने लगता है।

यह सडक स्टेशन जाती है।

यहा गेहूं की बोरिया पडी है।

नाली बह रही है।

मैं रेडियो सुन रहा हू।

उपर्युक्त सभी वाक्यो का अर्थ हम शब्दो से कुछ हटकर ही समझ सकते है। हम अच्छी तरह से जानते है कि सडक कभी स्टेशन नही जाती, किन्तु सडक पर चलने वाला व्यक्ति जाता है। बोरिया गेहू की नही, जूट आदि की बनी होती है। नाली मे पानी बह रहा है, स्वय नाली नही। इसी प्रकार रेडियो नही, रेडियो मे बोली गयी बाते सुनी जाती है।

अभिव्यक्ति की इस प्रकार की अनेक अपूर्णताओ के कारण ही हमारी एक बात का विभिन्न व्यक्ति विभिन्न अर्थ लगा लेते है और तब हमे 'हमारा तात्पर्य यह नही, यह था' के द्वारा अपना स्पष्टीकरण देने को बाध्य होना पडता है सम्भव है, उक्त स्पष्टीकरण के पश्चात् भी उन व्यक्तियो के मन मे यह आशंका बनी रह जाए कि पहले तो बात इसी अर्थ मे कही गयी थी, परन्तु अब पलटकर उसका दूसरा अर्थ किया जा रहा है।

प्रतिनिधि शब्द

उपर्युक्त सभी प्रकार की कमियो के रहते हुए भी हमारे पास अभिव्यक्ति के लिए भाषा ही अनन्य साधन है। इसके बिना हम अपने विचार एक-दूसरे तक समीचीन रूप मे पहुचा नही सकते। हमारे लिए इसका प्रयोग अनिवार्य है। चिन्त्य इतना ही रह जाता है कि किस प्रकार से इसका प्रयोग किया जाना चाहिए, जिससे कि भाषा हमारी अनुभूति को अधिक से अधिक पूर्णता के साथ अभिव्यक्त कर सके। भगवान् महावीर ने मार्ग बतलाते हुए कहा है—"विभज्जवायं च वियागरेज्जा"[1] अर्थात् बोलते समय 'विभज्यवाद' का प्रयोग करो।

विभज्यवाद स्याद्वाद

विभज्यवाद का अर्थ है—अपेक्षावाद। जिस किसी भी वस्तु के विषय मे हम कुछ कहना चाहते है, वह अनन्त धर्मात्मक होती है। उनमे से कुछ धर्म ही हमारे इन्द्रिय-सापेक्ष ज्ञान द्वारा ज्ञात हो पाते है। उन सब ज्ञात धर्मो का कथन भी एक

१ सूयगडाग, १-१४-२२

साथ मे सम्भव नही है, अत उन्हे विभिन्न अपेक्षाओ की दृष्टि से विभक्त कर दिया जाना आवश्यक हो जाता है। इस विभक्तीकरण को ही विभज्यवाद कहा जाता है। इसके द्वारा हम अभीष्ट का प्रतिपादन कर अपने अभिप्राय दूसरो तक पहुचा पाते है। अभिव्यक्ति की इस प्रणाली का दूसरा नाम 'स्याद्वाद' भी है। वह इसलिए कि अनेक अपेक्षाओ मे से वर्तमान मे हम किसी एक अपेक्षा को ही चुन सकते है, शेप सब गौण होकर कालान्तर के लिए रह जाती हैं। उन सभी गौण अपेक्षाओ तथा उनके द्वारा प्रतिपादित होने वाले धर्मो के अस्तित्व की स्वीकृति की सूचना के लिए प्रतीक रूप मे 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। उसे इस प्रकार भी कहा जाता है कि 'स्यात्' शब्द कथ्यमान धर्म के अतिरिक्त शेप सब धर्मो का प्रतिनिधित्व करता ह। स्याद्वाद की इस वाक्य-प्रणाली को दर्शन शास्त्र मे 'सकलादेश' या प्रमाण-वाक्य कहा जाता है।

बहुत बार 'स्यात् शब्द का प्रयोग किये विना भी वस्तु के किसी धर्म-विशेप का प्रतिपादन किया जाता है, परन्तु वहा भी कथन करने वाले के विचारो मे कथ्यमान धर्म के अतिरिक्त अन्य सभी धर्मों के प्रति निराकरण की भावना नहीं आनी चाहिए। शेष धर्मो के लिए प्रतिनिधि शब्द 'स्यात्' का वाक्य मे प्रयोग न करने पर भी अभिप्राय मे तो वह रहना ही चाहिए। प्रतिनिधि-शब्द रहित साधारण रूप से बोले गये वाक्य को 'विकलादेश' अथवा 'नयवाक्य' कहा जाता है। प्रमाण वाक्य मे वस्तु के एक कथ्यमान धर्म की मुख्य रूप से तथा शेप सभी धर्मों का 'स्यात्' के प्रतिनिधित्व मे गौण रूप से कथन किया जाता है, अत वह सम्पूर्ण वस्तु को विपय बनाता है। नयवाक्य मे वस्तु के किसी एक धर्म को ही विपय बनाया जाता है। शेप धर्मो का न तो किसी पतिनिधि शब्द द्वारा समर्थन किया जाता है और न ही किसी निवारक शब्द द्वारा निपेध ही। केवल कथ्यमान को कहकर शेप के लिए तटस्थ मौन ग्रहण कर लिया जाता हे।

सबके प्रति न्याय

प्रमाण-वाक्य का प्रयोग किया जाए, चाहे नयवाक्य का, दोनो ही स्थितियो मे उद्देश्य यही होता है कि वस्तु-विपयक हमारी अनुमति को भापा द्वारा ठीक अभिव्यक्ति मिले और उससे हमारे अभिप्राय को श्रोता ठीक ढग से समझ पाये। प्रतिपाद्य के प्रति न्याय तभी मम्भव है, जवकि प्रतिपादक अपने आग्रह और एकान्त मे मुक्त होकर यथावस्थित कथन करे। अयथार्थ कथन वैचारिक हिंमा है और यथार्थ कथन अहिसा। भगवान् महावीर ने **'न या सियावायं**

वियागरेज्जा'[1] का उपदेश देकर ससार को यही सन्देश दिया है कि स्याद्वाद-रहित एकान्त वचन नही बोलना चाहिए। अहिंसा-पालको के लिए स्याद्वाद प्रणाली के अतिरिक्त भावाभिव्यक्ति के लिए अन्य कोई निरवद्य प्रणाली नही है। इसी के द्वारा हम वस्तु सम्बन्धी हमारी अनुभूति को यथार्थ ढग से अभिव्यक्त कर सकते है और वस्तु, श्रोता तथा स्वय अपने प्रति न्याय कर सकते है।

१ सूत्रकृताग, १-१४-१९

स्याद्वाद क्या है ?

स्याद्वाद शब्द मीमासा

स्याद्वाद, जैन दर्शन के मन्तव्य को भाषा मे उतारने की पद्धति को कहते है। 'स्याद्वाद' के 'स्यात्' पद का अर्थ है, अपेक्षा या दृष्टिकोण और 'वाद' पद का अर्थ है—सिद्धान्त या प्रतिपादन। दोनो पदो से मिलकर बने इस शब्द का अर्थ हुआ—किसी वस्तु, धर्म, गुण या घटना आदि का किसी अपेक्षा से कथन करना 'स्याद्वाद' है।

आपेक्षिक सत्य

पदार्थ मे जो अनेक आपेक्षिक धर्म है, उन सबका यथार्थ ज्ञान तभी सम्भव हो सकता है जबकि उस अपेक्षा को सामने रखा जाए। दर्शन-शास्त्र मे नित्य-अनित्य, सत्-असत्, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, वाच्य-अवाच्य आदि तथा लोक-व्यवहार मे छोटा-बडा, स्थूल-सूक्ष्म, दूर-समीप, स्वच्छ-मलिन, मूर्ख-विद्वान् आदि अनेक ऐसे धर्म है, जो आपेक्षिक है। इनका तथा इन जैसे अन्य किसी भी धर्म या गुण का जब हम भाषा के द्वारा कथन करना चाहते है, तब वह उसी हद तक सार्थक हो सकता है, जहा तक हमारी अपेक्षा उसे अनुप्राणित करती है। जिस अपेक्षा से हम जिस शब्द का प्रयोग करते ह, उसी समय उसी पदार्थ के किसी दूसरे धर्म की अपेक्षा से दूसरे शब्द का प्रयोग भी किया जा सकता है। वह भी उतना ही सत्य होगा, जितना कि पहला। साराश यह कि एक पदार्थ के विषय मे अनेक ऐसी बाते हमारे ज्ञान म सन्निहित होती है, जो एक ही समय मे सारी की सारी समान रूप मे सत्य होती ह। फिर भी वस्तु के इस पूर्ण रूप को किसी दूसरे व्यक्ति के सामने रखते समय हम इसे विभक्त करके ही रख सकते है। भाषा की कुण्ठता के कारण ऐसा करने के लिए हम बाधित है।

स्यात् शब्द का प्रयोग क्यों ?

कोई एक शब्द वस्तु के सम्पूर्ण धर्मों की अभिव्यक्ति कर सके —ऐसा सम्भव नहीं है, अतः भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा भिन्न-भिन्न धर्मों का प्रतिपादन कर हम वस्तु सम्बन्धी अपना अभिप्राय दूसरों के सामने रखते हैं। जिस धर्म का प्रतिपादन करते हैं, उसके लिए तद्बोधक शब्द का प्रयोग करते हैं और अवशिष्ट विरोधी तथा अविरोधी समस्त धर्मों के लिए प्रतिनिधि स्वरूप 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका भाव होता है—कथ्यमान धर्म के अतिरिक्त और अनेक धर्म भी इस वस्तु में विद्यमान हैं सही परन्तु इस समय मैं उन सबकी सूचना ही कर सकता हूँ, कथन नहीं। हमारी इस सूचना से ज्ञाता अवशिष्ट धर्मों को भी कथ्यमान धर्म के समान वस्तु का अंग समझे, पर साथ ही यह भी समझे कि इस समय हम उसका ध्यान मुख्यतया अमुक कथ्यमान धर्म की ओर ही आकृष्ट करना चाहते हैं।

कभी-कभी 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किये बिना भी वस्तु-धर्म का प्रतिपादन किया जाता है, परन्तु वहां भी कथन के अभिप्राय में कथ्यमान धर्म के अतिरिक्त धर्मों का निराकरण करने की बात नहीं आनी चाहिए, तभी वस्तु-सम्बन्धी वास्तविकता का आदर किया जा सकता है।

सकलादेश विकलादेश

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात हो जाता है कि हम वस्तु का प्रतिपादन करते समय कभी सम्पूर्ण वस्तु के विषय में कहना चाहते हैं और कभी केवल उसके एक अंश मात्र के विषय में। वाक्य में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करते समय सम्पूर्ण वस्तु का चित्र हमारे सामने होता है। उसी को दूसरे के सामने रखना चाहते हैं अर्थात् एक कथ्यमान धर्म को मुख्य रूप से और शेष धर्मों को 'स्यात्' के प्रतिनिधित्व में गौण रूप में कहना चाहते हैं। इस प्रकार के कथन को दर्शन-शास्त्र में 'प्रमाण-वाक्य' या 'सकलादेश' कहा जाता है। परन्तु जब हम वस्तु के किसी एक धर्म के विषय में कहते हैं, परन्तु शेष धर्मों के विषय में न तो किसी प्रतिनिधि शब्द का प्रयोग कर समर्थन करते हैं और न किसी निवारक शब्द का प्रयोग कर खण्डन करते हैं, केवल कथ्यमान धर्म को कहकर शेष के लिए तटस्थ मौनावलम्बी हो जाते हैं। यह कथन 'नयवाक्य' या 'विकलादेश' कहलाता है। दूसरे शब्दों में उपर्युक्त बात को यों भी कहा जा सकता है—वस्तु सम्बन्धी हमारी सम्पूर्ण दृष्टि प्रमाण और एक दृष्टि या दृष्टिकोण नय कहलाता है।

वैचारिक अहिंसा का प्रतीक

प्रमाण-वाक्य हो चाहे नय-वाक्य, दोनों ही स्थितियों में उद्देश्य यही होता है कि

वस्तु-प्रतिपादन मे भाषा का प्रयोग ठीक से हो और ज्ञाता उसका अभिप्राय ठीक समझे। प्रतिपाद्य के प्रति किसी भी प्रकार का अन्याय तभी रुक सकता है, जबकि प्रतिपादक अपने आग्रह और एकान्त से विमुक्त होकर यथावस्थित कथन करे। अयथार्थ कथन वैचारिक हिंसा है तो यथार्थ कथन अहिसा। प्रमाण-वाक्य और नय-वाक्यमय स्याद्वाद की इस कथन प्रणाली को वैचारिक अहिंसा का प्रतीक कहा जा सकता है, क्योकि वह प्रणाली ही कथित और कथनावशिष्ट स्वभावो को, यदि वे वस्तु मे प्रमाणित होते है तो समान रूप मे स्वीकार करती है। यहा तक कि परस्पर विरोधी स्वभावो को भी जिस-जिस अपेक्षा से वे वहा प्राप्त होते है, उस-उस अपेक्षा से स्वीकार करना इस प्रणाली को अभीष्ट है। यदि ऐसा न किया जाए तो दार्शनिक पहलुओ का समाधान तो दूर रहा, व्यवहार भी नही चल सकता।

अपेक्षावाद · कुछ निदर्शन

भिन्न-भिन्न अपेक्षाए भिन्न-भिन्न जिज्ञासाओ के उत्तर से स्वय फलित होती है। एक वस्त्र विशेष के लिए पूछने वालो को हम उनकी जिज्ञासाओ के अनुसार ये भिन्न-भिन्न उत्तर दे सकते है—

(१) यह वस्त्र रूई का है।
(२) यह वस्त्र मिल का है।
(३) यह वस्त्र नरेन्द्र का है।
(४) यह वस्त्र पहनने का है।
(५) यह वस्त्र पाच रुपये का है।

अब बतलाइए यह वस्त्र किस-किस का समझा जाए ? किसी एक का या पाच का ? इन पाच कथनो मे से कोई भी कथन ऐसा नही, जिसे अप्रमाणित कहा जा सके। पाचो ही बाते भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ से उसी एक वस्त्र के विषय मे सत्य है। पाच ही क्यो ? दो गज का है, भारत का है, सन् १९५५ का है आदि और भी अनेक बाते उसके विषय मे कही जा सकती है और सबकी सब समान रूप से सत्य हो सकती है। इनमे से प्रत्येक कथन वस्त्र सम्बन्धी कोई-न-कोई जानकारी देता है। एक वाक्य मे जो बात कही गई है, दूसरे प्रत्येक वाक्य मे उससे भिन्न बात कही गयी है। फिर भी इनमे परस्पर कोई विरोध नही है। विरोध इसलिए नही है कि प्रत्येक की अपेक्षाए भिन्न है। वह वस्त्र उपादान-कारण की अपेक्षा से रुई का, तो सहकारी-कारणो की अपेक्षा से मिल का और स्वामित्व की अपेक्षा से नरेन्द्र का, कार्यक्षमता की अपेक्षा से पहनने का तथा मूल्य की अपेक्षा से पाच रुपये का है। प्रश्नकर्त्ताओं की ये जिज्ञासाए—यह वस्त्र रुई का है या रेशम का ? मिल का है या हाथ का ? नरेन्द्र का है या वीरेन्द्र का ? पहनने का है या ओढ़ने का ? कितने

मूल्य का है?—उत्तरदाता को भिन्न-भिन्न उत्तर देने के लिए ही प्रेरित करती है। किसी एक उत्तर से सारी जिज्ञासाए शान्त नही हो सकती।

साधारण लोक-व्यवहार मे अपेक्षा भेद से कथन का यह प्रकार जितना मौलिक, उचित और सत्य है, उतना ही दार्शनिक क्षेत्र मे भी। उपर्युक्त वस्त्र-सम्बन्धी ज्ञान मे एकान्तवादिता सत्य से जितनी दूर ले जा सकती है, तत्त्वज्ञान सम्बन्धी एकान्तवादिता भी उतनी ही दूर ले जाती है, अत. दार्शनिक क्षेत्र मे भी 'स्याद्वाद' (अपेक्षावाद) का प्रयोग आदरणीय ही नही, अनिवार्य भी है।

जैनेतर दार्शनिकों का तर्क

जैनेतर दार्शनिको का स्याद्वाद के विषय मे एक खास तर्क यह रहा है कि यदि पदार्थ 'सत्' है तो 'असत्' कैसे हो सकता है? इसी प्रकार नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य आदि परस्पर विरोधी धर्म एक ही समय मे एक पदार्थ मे कैसे टिक सकते है? इसी तर्क के आधार पर शकराचार्य और रामानुजाचार्य जैसे विद्वानो ने 'स्याद्वाद' को 'पागल का प्रलाप' कहकर इसकी उपेक्षा की, राहुल साकृत्यायन ने 'दर्शन-दिग्दर्शन' मे बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के शब्दो के आधार पर दही, दही भी है और ऊट भी, तो दही खाने के समय ऊट खाने को क्यो नही दौडते? इस आशय का कथन कर स्याद्वाद का उपहास किया है। डॉ० एस० राधाकृष्णन् ने इसे 'अर्द्ध सत्य' कहकर त्याज्य बताया है, इसी प्रकार किसी ने इसे 'छल' और किसी ने 'संशयवाद' बतलाया है। परन्तु यह सब तो 'प्रत्येक विभिन्न कथन के साथ विभिन्न अपेक्षा होती हैं'—स्याद्वाद के इस सूत्र को हृदयगम न कर सकने के कारण हुआ है। बद्धमूल धारणा तथा जैनेतर ग्रन्थो मे जैन के लिए किये गए कथन को सत्य मानकर चलना भी इसमे सहायक हुए हैं। अन्यथा अपेक्षा भेद मे 'सत्' अर्थात् 'है' और 'नही है' का कथन विरुद्ध मालूम नही देना चाहिए।

भिन्न हैं अपेक्षाए

वस्त्र की दुकान पर किसी ने दुकानदार से पूछा—'यह वस्त्र सूत का है न?' दुकानदार ने उत्तर दिया—'हा साहब, यह सूत का है।' दूसरे व्यक्ति ने आकर उसी वस्त्र के विषय मे पूछा—'क्यो साहब, यह वस्त्र रेशम का है न? दुकानदार बोला—'नही, यह रेशम का नही है।' यहा कथित वस्त्र के लिए 'यह सूत का है', यह बात जितनी सत्य है, उतनी ही 'यह रेशम का नही है' यह भी सत्य है। एक ही वस्त्र के विषय मे सूत की अपेक्षा से 'सत्' अर्थात् 'है' और रेशम की अपेक्षा से 'असत्' अर्थात् 'नही है' का कथन किसको अखर सकता है? 'स्याद्वाद' भी तो यही कहता है। 'सत् है तो वह असत् कैसे हो सकता है?' यह शका तो ठीक ऐसी ही है कि 'पुत्र है तो वह पिता कैसे हो सकता है?' परन्तु वह अपने पिता का पुत्र

है तो अपने पुत्र का पिता भी हो सकता है। इसमे कोई विरुद्धता नही आ सकती, क्योकि अपेक्षाए भिन्न है।

स्याद्वाद चार दृष्टियां

स्याद्वाद के मतानुसार प्रत्येक पदार्थ 'स्व' द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 'सत्' है तथा पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 'असत्'। इसे सरलतापूर्वक यो समझा जा सकता है—एक घडा स्व-द्रव्य मिट्टी की अपेक्षा से सत्—अस्तित्व युक्त है, पर द्रव्य—वस्त्रादि इतर वस्तुओ की अपेक्षा से असत् है अर्थात् घडा, घडा है, वस्त्र नही।

द्रव्य के समान ही किसी बात की सत्यता मे क्षेत्र की अपेक्षा भी रहती है। कोई घटना किसी एक क्षेत्र की अपेक्षा से ही सत्य हो सकती है। जैसे—भगवान् महावीर का निर्वाण 'पावा' में हुआ। भगवान् के निर्वाण की यह घटना 'पावा' क्षेत्र की अपेक्षा से ही सत्य—सत् है, परन्तु यदि कोई कहे 'भगवान् का निर्वाण राजगृह मे हुआ' तो यह बात असत्य ही कही जाएगी।

द्रव्य और क्षेत्र के समान ही पदार्थ की सत्ता और असत्ता बताने के लिए काल की भी अपेक्षा है, जैसे—आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात सवत् २००५ मे किया। इसके अतिरिक्त किसी काल का कथन किया जाए तो वह अणुव्रत-आन्दोलन के सम्बन्ध मे सत्यता प्रकट नही कर सकता।

इसी प्रकार वस्तु की सत्यता मे भाव भी अपेक्षित है, जैसे—पानी मे तरलता होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तरलता नामक भाव से ही पानी की सत्ता पहचानी जा सकती है, अन्यथा तो वह हिम, वाष्प या कुहरा ही होता, जो कि पानी नही, किन्तु उसके रूपातर है।

स्व-धर्मो की सत्ता परधर्मो की असत्ता

उपर्युक्त प्रकार से हम जान सकते है कि प्रत्येक पदार्थ की सत्ता स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से ही है, परद्रव्य, परकाल और परभाव की अपेक्षा से नही। यदि परद्रव्य आदि से भी उसकी सत्ता हो सकती तो एक ही वस्तु सब वस्तु होती और सब क्षेत्र, सब काल और गुणयुक्त भी होती अर्थात् एक घडा मिट्टी का भी कहा जा सकता और सोने-चादी, लोहे आदि का भी। कानपुर का भी कहा जा सकता और दिल्ली का भी। सवत् २००५ का भी कहा जा सकता और सवत् २००० का भी। जलाहरण के काम मे भी लिया जा सकता और पहनने के काम मे भी।

परन्तु ऐसा नहीं हो सकता, क्योकि उसमे स्वधर्मो की सत्ता के समान ही परधर्मो की असत्ता भी विद्यमान है। स्वद्रव्यादि की अपेक्षा मे घट मे 'अस्ति' शब्द

का विषय वनने की जितनी योग्यता है, उतनी ही परद्रव्यादि की अपेक्षा से 'नास्ति' शव्द का विषय वनने की भी। यही कारण है कि घडे का स्वरूप विधि और निषेध—दोनो से प्रकट होता है।

विचार-क्षेत्र मे वहुमूल्य अवदान

उपर्युक्त 'सत्-असत्' अर्थात् 'अस्ति-नास्ति' अर्थात् 'विधि-निषेध' के आपेक्षिक कथन के समान ही वस्तु मे सामान्य-विशेष, एक-अनेक आदि विभिन्न धर्मो का भी आपेक्षिक अस्तित्व समझना चाहिए।

भगवान् महावीर ने जगत् को जीवन-क्षेत्र मे अहिसा की जितनी वहुमूल्य देन दी है, विचार-क्षेत्र मे भी 'स्याद्वाद' की उतनी ही वहुमूल्य देन दी है। अहिसा जीवन को उदार और सर्वागीण वनाती है तो स्याद्वाद विचारो को। एकागी विचार अपूर्ण और वास्तविकता से दूर होता है, जवकि सर्वागीण विचार पूर्ण और वास्तविक होता है।

समन्वय की ओर

परिवर्तित फिर भी अपरिवर्तित

जैन धर्म का दृष्टिकोण मूलत समन्वयवादी रहा है। जैन-दर्शन की स्याद्वाद प्रणाली यही सकेत करती है। जैन दर्शन प्रत्येक पदार्थ को अनन्त धर्मो-स्वभावो से युक्त मानता है। उन स्वभावो मे अनेक ऐसे भी है, जो साधारण दृष्टि से परस्पर सर्वथा विपरीत प्रतीत होते है। उनका सहावस्थान अन्य अनेक दर्शनिको की दृष्टि मे असम्भव है, परन्तु स्याद्वादी के लिए वह कोई असम्भव तो है ही नही, अपितु अनिवार्य है। वस्तु मे कौन-कौन से स्वभाव होने चाहिए, यह निर्णय देने का किसी को अधिकार नही है, इसके विपरीत वस्तु मे कौन-कौन से स्वभाव है, यही सब सत्य-गवेपको के लिए अन्वेपणीय होता है। उस अन्वेषण मे यदि विरोधी धर्मो का सहावस्थान प्राप्त होता है, तो फिर उस वस्तु-सत्य को इनकार करने वाले हम होते कौन है? अपनी जिज्ञासा का उत्तर देने के लिए वस्तु-स्वभाव को उलटने का प्रयास करने के स्थान पर अपने विचार-प्रकार का ही पुर्नानिरीक्षण करना आवश्यक है, जिससे वस्तु-सत्य के साथ उसका विरोध न रहे।

उदाहरण के लिए हम वस्तु के नित्यत्व और अनित्यत्व स्वभाव पर ही विचार करे। पहली दृष्टि मे यह बात जचती-सी लगेगी कि जो वस्तु नित्य होती है, वह अनित्य नही हो सकती और जो अनित्य होती है, वह नित्य नही हो सकती। परन्तु जब इसे वस्तु-विश्लेपण के प्रकाश मे देखा जाता है, तब लगता है कि वस्तु का अन्तरग नित्य होता है और बहिरग अनित्य। कल्पना कीजिये, किसी व्यक्ति के पास सोने का एक बिस्कुट है। वह उसका कण्ठहार बनवाता है। कालान्तर मे उसी कण्ठहार मे ककण और फिर उसी स्वर्ण मे अगूठिया बनवाता है। हम देखते है कि हर बार वस्तु के आकार मे परिवर्तन आता है, परन्तु उसी के साथ यह भी देखते है कि हर बार वह स्वर्ण ही रहता है। इससे सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुचा जा सकता है कि वस्तु मे कुछ अपरिवर्तनशील होता है, उसे हम वस्तु का अन्तरग कह

सकते है। इसी प्रकार कुछ परिवर्तनशील भी होता है, उसे वस्तु का बहिरंग कह सकते है। दार्शनिको ने इन्हे क्रमश द्रव्य और पर्याय के नाम से पुकारा है।

भाषा की असमर्थता

जब हम यह कहते है कि वस्तु नित्य होती है, तब हम वस्तुगत अनन्त सत्यो मे से केवल एक ही का उद्घाटन करते होते है, इसी प्रकार जब हम यह कहते है कि वस्तु अनित्य होती है, तब भी उनमे से एक ही सत्य का उद्घाटन करते होते है। वस्तुगत सम्पूर्ण सत्यो का उद्घाटन करना भाषा के सामर्थ्य से बाहर है, अत कथनीय वस्तु-स्वभाव के अतिरिक्त अन्य सब स्वभावो के अस्तित्व की स्वीकृति के लिए जैन दार्शनिको ने एक सांकेतिक शब्द चुन लिया है—'स्यात्'। यह शब्द कथ्य धर्म के अतिरिक्त शेष सभी धर्मो का प्रतिनिधित्व करता है। इसी शब्द के आधार पर जैन की समग्र व्याख्या-पद्धति को स्याद्वाद के नाम से पुकारा जाता है। स्याद्वाद का अर्थ है, अपेक्षावाद। अर्थात हर वस्तु या धर्म को विभिन्न अपेक्षाओ के प्रकाश मे देखना। तात्पर्य यह कि वस्तु मे जितने भी विरोधी या अविरोधी धर्म है, वे सब विभिन्न अपेक्षाओ के आधार पर ही एकत्र अनुस्यूत है। अपेक्षाओ की उपेक्षा कर किसी भी वस्तु-सत्य तक नही पहुचा जा सकता। इस प्रणाली के आधार पर दार्शनिको ने परस्पर सर्वथा विरुद्ध दिखाई देने वाले दर्शनो का भी समन्वय करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। आचार्य सिद्धसेन ने भगवान् की स्तुति करते हुए इसी बात को इन शब्दो मे व्यक्त किया है—हे प्रभो! समुद्र मे जिस प्रकार नदिया समन्वित हो जाती है, उसी प्रकार आप मे सभी दर्शन समन्वित हो गये है।[1]

आचार्य हरिभद्र ने तो और भी अधिक स्पष्टता और उदारता के साथ अन्य दार्शनिको के मन्तव्यो का समन्वयन किया है। ईश्वर कर्तृत्ववाद के विषय मे वे कहते है—"परम ईश्वरत्व युक्त होने से आत्मा को ही ईश्वर कहा जाता है और वह कर्ता है। इस प्रकार कर्तृत्ववाद की व्यवस्था निर्दोष सिद्ध होती है।"[2] उन्होने अन्य सभी दार्शनिको के मन्तव्यो को भी उसी प्रकार अपेक्षा-भेद से सत्य स्वीकार करते हुए उनके प्रवर्तको के प्रति आदर-भाव व्यक्त किया है।

दर्शन व्यवहार मे

जैनाचार्यो की समन्वय-भावना केवल दार्शनिक मन्तव्यो तक ही सीमित नही रही,

---

१ "उदधाविव सर्वसिन्धव, समुदीर्णास्त्वयि नाथ! दृष्टय।"
२ "परमैश्वर्ययुक्तत्वान्, मत आत्मैव चेश्वर
स च कर्तेति निर्दोष, कर्तृवादो व्यवस्थित।"

व्यवहार पक्ष मे भी उन्होने उसकी अवतारणा की। कहा जाता है कि हेमचन्द्र एक वार राजा कुमारपाल के साथ सोमनाथ मदिर मे गये और वहा स्तुति करते हुए उन्होने कहा—"भव बीज को अकुरित करने वाले राग और द्वेष जिसके क्षय हो गये हो, उस देव को मै नमस्कार करता हूं। उसका नाम चाहे फिर ब्रह्मा, विष्णु, महेश, जिन या अन्य कोई भी क्यो न हो।"[1]

दर्शन और व्यवहार—दोनो ही पक्षो मे जैनाचार्यो ने समवन्य की भावना को सुदृढ किया है। जैनाचार्यों ने मतभेदो का पोपण कभी किया ही नही, यह तो नही कहा जा सकता, पर इतना तो स्पष्ट ही है कि मतभेद होने पर भी उन्होने अपने कथन की अपेक्षाओ को समझाने के साथ-साथ दूसरो के कथन की अपेक्षाओ को समझने का भी प्रयास किया है। मतवाद उनके जीवन का लक्ष्य कभी नही रहा। उन्होने अपना लक्ष्य साधना को ही वनाया, परन्तु उसकी सिद्धि के मार्ग मे पगडण्डियो की तरह अनेक मतवादो ने जन्म लिया, इससे इनकार नही किया जा सकता। इमे क्षेत्र और काल की अनिवार्यता भी कहा जा सकता है तथा आवश्यकता और परिस्थितियो की उत्प्रेरणा भी। इस सवके वावजूद मतवाद को गौण मानते हुए उन्होने मुख्यत साधना पर ही वल दिया। पूर्णता के लिए मत, परम्परा या वेश आदि को नही, किन्तु साधना से उद्दीप्त आत्मा के समताभाव को ही उन्होने मूल कारण माना। "जैन हो या वौद्ध, श्वेताम्वर हो या दिगम्वर या फिर इन सवसे भिन्न किसी अन्य मत या सम्प्रदाय को मानने वाला ही क्यो न हो, यदि उसने अपने आपको समभाव से भावित किया है तो निश्चय ही उसको मोक्ष की प्राप्ति होगी।"[2] आचार्य हरिभद्र के ये शब्द मतवाद के स्थान पर साधना को ही पुष्ट करने वाले है।

प्रक्रिया गौण, साधना मुख्य

साधना की लम्वी प्रक्रिया मे अनेक स्थानो पर मतभेद हो सकता है, किन्तु जव तक वह गौण और साधना मुख्य रहती है, तव तक कोई भय की वात नही। मतभेद सर्वथा बुराई ही पैदा नही करता, वह तत्त्व-वोध मे सहायक भी हो सकता है। शर्त एक ही है कि अपने पर उसका नशा नही होना चाहिए। नशा होते ही मतभेद मतवाद का रूप ले लेता है और फिर समन्वय के द्वार वन्द हो जाते है। दो विभिन्न

---

१ "भव बीजाकुर जनना, रागाद्या क्षयमुपागता यस्य,
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै।"

२ "सेयवरो व आसवरो व बुद्धो व तह अन्नो वा,
समभाव भाविअप्पा, लहइ मोक्ख न संदेहो।"

मन्तव्यो के सहावस्थान का आधार खोज निकालना ही तो समन्वय है। मतवाद उसे कभी पसद नही करता। वह एकाकी रहने मे ही अपना कल्याण मानता है।

माध्यम समन्वय का

प्रत्येक जैन को स्याद्वाद की घुट्टी के साथ ही समन्वय की भावना स्वत प्राप्त हो जाती है। पूर्वाचार्यों ने उस भावना को मांजकर और भी उज्ज्वल तथा सुसस्कृत वनाया है। फलस्वरूप उसे माजते रहने का सस्कार भी सवको विरासत मे प्राप्त हुआ है। इतना होने पर भी परस्पर के अनेक मतभेद ऐसे हैं, जो मतवाद की सीमा मे प्रविष्ट हो चुके हैं। उनके समन्वयन तथा विलयन का अभी तक कोई मार्ग नही निकल पाया है। स्याद्वाद पर आस्था रखने वालो के लिए यह कोई गौरव की वात नही, अपितु लज्जा की ही वात है।

जैनेतर मान्यताओ के साथ समन्वय की वात करना तव तक एक वहुत वडा दम्भ ही होगा, जव तक कि स्वय जैन मान्यताओ मे समन्वय के सूत्र नही खोजे जाते। विभिन्न जैन सम्प्रदायो मे परस्पर जितने भी प्रश्न खडे हैं, उनको समाहित करना आज की वहुत वडी आवश्यकता है। इन मतभेदो मे अनेक ऐसे हैं, जो विलयन के योग्य हैं। वह तभी हो सकता है, जव कि पूर्णत मतैक्य हो। अनेक मतभेद ऐसे भी है, जिनमे आज की स्थिति मे पूर्ण मतैक्य की सम्भावना नही की जा सकती, फिर भी उनमे समन्वयन तो किया ही जा सकता है। उनके लिए उन अपेक्षाओ को खोजना होगा, जो उनके एकाधिकरण्य का आधार वन सकती हैं।

जैन समाज अपने इस कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होने के लिए आज जागरूक दिखाई देता है। भारत के स्वतन्त्र होने के साथ ही उसकी इस जागरूकता मे और निखार आया है। अनेक सस्थाए इस कार्य को आगे वढाने मे अपना योगदान करने को उद्यत है। जैनाचार्य भी अपने इस उत्तरदायित्व के प्रति अधिक सचेष्ट हुए हैं। वे एकता और समन्वय के इस पथ पर जनता का पथ-दर्शन करने को उन्मुख हैं।

सवका दायित्व

आचार्यश्री तुलसी ने जैन ऐक्य के लिए प्रेरणा देते हुए प्रथम चरण न्याय के रूप मे एक त्रिसूत्री योजना जैन समाज के सम्मुख रखी थी। उसकी प्राय सर्वत्र अच्छी प्रतिक्रिया हुई, कार्य आगे वढा। फलस्वरूप दिल्ली मे दिगम्वर, स्थानकवासी और तेरापथी, इन तीन सम्प्रदायो के आचार्यों का सम्मेलन हुआ। सविग्न सम्प्रदाय के कोई आचार्य उस समय दिल्ली मे उपस्थित नही थे। यदि चारो सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य सम्मिलित हो पाते, तो वह सम्मेलन और भी व्यापक होता। फिर भी वह शुभारम्भ समन्वय और एकता की दिशा मे एक कदम और आगे वढने का कार्य तो था ही। उसमे सर्व सम्मति से कुछ निर्णय किये गये। यद्यपि

वे अन्तिम नही थे, फिर भी समन्वय की प्रथम सामूहिक अभिव्यक्ति के द्योतक होने के साथ-साथ वातावरण मे एक नया उत्साह और नयी प्रेरणा उत्पन्न करने वाले थे। यद्यपि वह घोषणा परिणति के समय परिपूर्णता के साथ लागू नही की जा सकी, फिर भी यह आशा तो बधी ही कि अगली बार जो निर्णय किये जायेंगे, उनमे उन बातो पर भी विस्तृत विचार किया जायेगा, जिन पर पिछली बार नही किया जा सका।

भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट स्याद्वाद की छत्र-छाया मे पूर्वाचार्यों द्वारा परिपुष्ट समन्वय की इस भावना को आगे बढ़ाने का पवित्र कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व वर्तमान जैनाचार्यों का तो है ही, परन्तु साथ मे श्रमण वर्ग तथा श्रावक वर्ग का सहयोग भी उतना ही अपेक्षणीय है। आचार्यों के निर्णय को वास्तविकता मे परिणत करने का उत्तरदायित्व वस्तुत उन्ही पर होता है। कार्य की गुरुता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह सब तत्काल होने वाला नही है, फिर भी इसकी आवश्यकता बतलाती है कि इसमे जितनी शीघ्रता की जायेगी, जैन-समाज का उतना ही अधिक कल्याण होगा। कठिन से कठिन कार्य भी दृढ निश्चय और व्यवस्थित क्रम से करने पर सहज हो जाता है।

अहिंसा : एक अनुचिंतन

परम धर्म

अहिंसा सब प्राणियो के लिए क्षेमकरी है, इसलिए उसे परम धर्म कहा जाता है। एकेंद्रिय से लेकर पचेंद्रिय तक के सभी प्राणी जीने की आकाक्षा करते है, मरना किसी को प्रिय नही होता, इसीलिए हिंसा को घोर दुष्कर्म माना जाता है[1] अहिंसा की साधना सभी प्राणियो के साथ मित्रता की साधना है। भगवान महावीर ने स्थान-स्थान पर अपने उपदेश मे इस बात को दुहराया है कि किसी भी प्राणी का वध मत करो। किसी को पीडा और परिताप भी मत पहुचाओ, यहा तक कि किसी के प्रति बुरा मत सोचो। इससे भी आगे इतना और कि किसी के द्वारा किसी के प्रति किए गये बुरे चिन्तन की मन मे भी अनुमोदना मत करो, क्योकि वह भी हिंसा है।

अहिंसा आत्म-गुण है और हिंसा आत्म-दोष, किन्तु प्राणिवध या प्राणि-परिताप आदि मे मापदड बनता है दूसरा प्राणी। इसलिए किसी के मरने या न मरने के आधार पर हिंसा या अहिंसा का जो विचार किया जाता है, वह स्थूल एव व्यवहार-मात्र ही होता है। निश्चय के आधार पर आत्मा की प्रमत्त अवस्था को हिंसा तथा अप्रमत्त अवस्था को अहिंसा कहा जाता है।[2]

प्रथम धर्म

जैन धर्म मे अहिंसा व्रत को सब व्रतो मे प्रथम और मूल माना गया है। जिस व्यक्ति मे अहिंसा का अवतरण होता है, उसी मे अन्य गुणो का अवतरण सभव है,

---

1 सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउ न मरिज्जिउ
तम्हा पाणवह घोर, निग्गथा वज्जयति ण — दसवैआलिय 6/10

2 आया चेव अहिसा, आया हिसत्ति निच्छओ एस
जो होइ अप्पमत्तो, अहिसओ हिसओ इयरो—विशेषावश्यक भाष्य 3536

अन्य किसी मे नही, इसलिए यहा तक कहा गया है कि मूलत अहिंसा ही एकमात्र व्रत है। शेष सारे व्रत तो उसी के सरक्षण के लिए है।[1] तात्पर्य यह है कि धर्म का प्रत्येक रूप अहिंसा से ही प्रारभ होता है। उसका सूक्ष्म या आन्तरिक स्वरूप है अप्रमत्तता तथा स्थूल या बाह्य रूप है प्राणियो के प्रति सदयता। स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति करता हुआ साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

शाश्वत एव व्यवहार्य

अहिंसा नीति-धर्म न होकर आत्म-धर्म है, अत वह शाश्वत धर्म है। नीतिया आवश्यकतानुसार बदलती रहती है। वे समाज की तात्कालिक समस्या को हल करने के लिए बनाई या बदली जाती है, किन्तु आत्म-धर्म सदा एक रूप मे रहता है। न उसे कभी बनाया जा सकता है और न बदला। फिर भी प्रत्येक तीर्थकर अपने युग मे धर्मतीर्थ की स्थापना करते है और महाव्रत तथा अणुव्रत के रूप मे अहिंसा-धर्म का उपदेश देते हैं। उसमे न धर्म नया होता है और न उसकी व्याख्या, परन्तु उस युग मे उन महान् आत्माओ के द्वारा सस्थापित या व्याख्यात होने की अपेक्षा से उसे नया कह दिया जाता है।

वर्तमान अवसर्पिणी-काल मे अहिंसा-धर्म की स्थापना मे सर्वप्रथम भगवान ऋषभ का नाम आता है। वे इस युग के प्रथम योगी थे। उन्होने स्वानुभूति के आधार पर पूर्ण अहिंसा-धर्म को आत्मसात् कर साधना के सोपानो पर चढते हुए कैवल्य प्राप्त किया। उनके उपदेशानुसार अहिंसादि व्रतो की पूर्ण साधना करने वाले साधु और साध्वी तथा यथाशक्य साधना करने वाले श्रावक और श्राविका कहलाए। इन्ही चार प्रकार के साधको को आधार बनाकर नामकरण हुआ— **'चतुर्विध धर्मसघ'** अति प्राचीन प्रागैतिहासिक काल मे सघात्मक स्थिति से अहिंसा की साधना करने का पौराणिक ग्रन्थो मे यह प्रथम वर्णन मिलता है।[2]

दूसरा वर्णन भगवान नेमिनाथ का मिलता है। वे श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। अपने विवाह के अवसर पर कन्यापक्ष वालो की ओर से भोज के लिए एकत्रित किये गये पशुओ को देखकर उनका मन कपित हो उठा। भोजन के निमित्त की जाने वाली उस सभावित हिंसा को अपने लिए अनिष्ट मानकर उन्होने विवाह करने से ही इनकार कर दिया। उसी समय वे वापस अपने नगर चले गये और अहिंसात्मक धर्मसघ के प्रतिष्ठाता बने। उपनिषद् मे घोर आगिरस को श्रीकृष्ण का गुरु बतलाया गया है। उन्होंने श्रीकृष्ण को आत्मयज्ञ की शिक्षा दी और

---

१ एक्कच्चिय एत्थ वय, निद्दिट्ठ जिणवरेंहि सव्वेंहि।
पाणाइवय-विरमण, मवसेसा तस्स रक्खट्ठा॥

२. जबूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष २, सूत्र ४३

तपश्चर्या, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य को उस यज्ञ की दक्षिणा बतलाया।[1] कहा जाता है कि वे घोर आंगिरस अन्य कोई नही, भगवान नेमिनाथ ही थे।

तीसरा वर्णन भगवान् पार्श्वनाथ का उपलब्ध होता है। भगवान् नेमिनाथ को कुछ इतिहासकार ऐतिहासिक पुरुष मानते है तो कुछ प्राग्-ऐतिहासिक, परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ को सभी ऐतिहासिक मानते है। उन्होने अपने द्वारा निर्दिष्ट चातुर्याम धर्म के माध्यम से अहिंसा को जन-जीवन मे व्यवहार्य रूप प्रदान किया।

भगवान् महावीर ने अहिंसा को ऐसा निखार दिया कि वह जन-मानस मे रच-पच गई। यज्ञादि मे हिंसा को मान्य करने वालो को भी 'अहिंसा परमोधर्म' जैसे सूत्र वाक्यो का निर्माण करना पडा। ससार आज भगवान् महावीर का आभारी है कि उन्होने उसे आत्म-कल्याण और जीवन-व्यवहार के लिए एक प्रशस्त एव शाश्वत धर्म का मार्ग-दर्शन दिया।

वर्तमान के लिए

अहिंसा-धर्मियो के लिए वर्तमान काल एक परीक्षा का काल है। चारो ओर से बढ रही हिंसा का निरसन वे तभी कर सकते है जब पहले स्वय के जीवन मे उसे गभीरता से लागू करे। जिस धर्म ने पेड-पौधो तक अपनी दया का विस्तार किया था, आज उसमे न्यूनता दृष्टिगत होने लगी है। पशु-पक्षियो के प्रति निर्दय व्यवहार करने वालो की सख्या कम नही है। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य के प्रति भी सदय विचार नही किया जा रहा है। उसकी हत्या भी आज किसी को जल्दी से कपित नही करती। शोषण, मिलावट, प्रवचना आदि के द्वारा मनुष्य ही मनुष्य के प्रति जो अपराध कर रहा है, वह सब हिंसा का ही तो एक अग है। अहिंसा को समृद्ध देखने की कामना करने वालो के लिए यह आत्म-निरीक्षण का समय है। दूसरो की पीडा को अपनी पीडा के समान देखने वाले ही अहिंसा की भावना को आगे बढा सकते है।

---

१ छान्दोग्य उपनिषद् ३, १७

आज के परिप्रेक्ष्य में 'अहिसा'

'अहिंसा' के विषय मे मात्र आज के परिप्रेक्ष्य मे चितन नही हो सकता। पिछने इतिहास को भी जानना होगा और उसके साथ-साथ भविष्य के लिए भी सोचना होगा। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनो समय को सम्मिलित कर सोचे तभी इस विपय की सार्थकता होगी। अहिसा जीवन है और जीवन इन तीनो काल से प्रभावित् होता है।

अमृत है अहिसा

वस्तुत अहिसा जीवन के लिए अमृत है। क्या अहिसा के विना जीवन का कोई अस्तित्व हो सकता है? अहिसा के विना शान्त जीवन की कल्पना भी नही कर सकते। इसके विना सह-अस्तित्व, सौहार्द और समन्वय जैसे मूलभूत तत्त्व भी समाज मे विकसित नही होगे। अहिसा के आवरण से ही यह सव सभव है। इसीलिए अहिसा के आचरण को जीवन मे उतारना अमृतपान है। आज तक मनुष्य इसीलिए जीवित है कि उसने दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार किया है। एक साथ सैकडो लोग वैठकर ऐसे विषय पर चिन्तन कर सकते है। समस्याओ के वारे मे सोच सकते है। एक साथ हम कुत्तो को इस तरह नही विठा सकते। मिलकर वैठना तो क्या, गली के कोने पर भी कोई आता दिखाई दे तो उस गली के कुत्ते उस पर हमला वोल देंगे। कुत्तो का यह स्वभाव सुरक्षा की दृष्टि से उपयोगी माना जाता है। मगर सामूहिकता मे इस दृष्टि से काम नही चलता। पारस्परिक सौहार्द के लिए अहिसा आवश्यक होती है। सज्जनता अहिसा के माध्यम से आती है।

चिन्तन की गहराई मे

वहुत लोग सोचते है कि मनुष्य लडता आया है। उसने आज तक हजारो लडाइया लडी है। कई ऐसे झगडे कि उनका विवरण सुनकर भी रोगटे खडे होते हैं। किन्तु इन सवसे निराश हो, ऐसी वात नजर नही आती। मनुष्य मिलकर अधिक रहा है उसके अनुपात मे लडा कम है। लड़ाई का उद्गम भी तो शान्ति स्थापित करने को

होता है। लड-झगड कर भी तो अतत समझौता ही होता है, शान्ति-वार्ता होती है। अहिंसा स्थापित करने के प्रयत्न हमे आशावान बनाते है।

हम गहराई से खोजें। किनारे पर बैठकर समुद्र की गहराई का पता नही लगता। वहा तो सीप, ककड, घोघे आदि ही हाथ लगेंगे। मोती उन्हे मिलते है जो गहरी डुबकी लगाते है। गहरे चितन से यह तत्त्व हाथ लगेगा कि मनुष्य ने सदैव अहिसा को महत्त्व दिया है।

बचाव का एक ही रास्ता

मनुष्य शाति चाहता है। यही आशा की एक झलक है। वह शस्त्रास्त्र इकट्ठा करता है मगर कहता यही है कि शान्ति और सुरक्षा के लिए वह ऐसा कर रहा है। उसे भय है। किस बात का है वह भय। हिंसा का, विनाश का। कोई उस पर आक्रमण न कर दे। प्रतिरोधात्मक शक्ति चाहिए जिससे हिसा टल सके। फिर चाहे किसी कारण से हो, भय से हो, है तो समझौते से जीने की बात। यही तो अहिसा का कदम है। अहिसा की वृत्ति काम कर रही है। अन्यथा हिंसा का एक कदम विनाश के लिए पर्याप्त है। इतने परमाणु अस्त्र-शस्त्र एकत्रित किए जा चुके है कि संसार को बीस बार खत्म किया जा सकता है। मगर सब जानते हैं कि अहिसा से ही बचाव सभव है। एक ही रास्ता है यह। मैत्री भाव को विकसित करे। एक-दूसरे राष्ट्र के अस्तित्व को स्वीकार करें। हर मन मे मैत्री अकुरित हो तो बचाव सभव है। विश्वास उत्पन्न होगा तो विनाश के साधन अधिक नही बनेंगे और जो है उनमे से कम किए जा सकेंगे।

मन पवित्र हो

आइस्टीन ने कहा था कि चौथा विश्व युद्ध तो पत्थरो और लाठियो मे ही लडा जाएगा। तीसरे युद्ध मे सब कुछ नष्ट हो जाएगा। कोई अगर कदराओ मे छुपकर बच गए तो उनके पास कोई अस्त्र-शस्त्र शेष न रहेगे। हिंसा के परिणाम को इससे आका जा सकता है।

मानव मानव को समझना होगा कि दूसरे को बुरा कहकर मै ऊचा नही बन सकूगा। दूसरे को समान मानने वाली बात अहिसा मे ही आएगी। महावीर ने कहा—'मित्ती मे सव्व भूएसु, वेर मज्झं न केणई'। सब जीवो मे मित्रता, किसी से भी वैर नही। यह निर्वैर भावना मात्र वाणी की बात न हो। वाणी की बात मात्र अभिनय होगी। मन की बात कर्म मे होगी। मन पवित्र हो, करुणामय हो।

अध्यात्म की ऊंचाई संसार का अस्तित्व

संहार की तैयारियां करते विश्व को महावीर का सदेश आज भी सही मार्ग

दिखा रहा है। आवश्यक है सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र। विशुद्ध दृष्टि, विशुद्ध बोध और विशुद्ध आचरण। महावीर ने तो इसे जीव की मुक्ति का मार्ग बताया। पर सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे भी व्यक्ति-व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी इसके बिना संभव नही।

आज के परिप्रेक्ष्य की क्या कहे, अभी इसी क्षण मे गहराई से चिंतन करें। क्या मनुष्य समाज अहिंसा के बिना टिक सकता है ? कही थोडी भी हलचल होती है तो सारा विश्व जुट जाता है, शाति प्रयासो की दिशा मे। आज जो यह प्रश्न करते हैं कि क्या किया है अहिसा ने ? उनसे मेरा प्रतिप्रश्न है, क्या किया है 'हिंसा' ने ? यही न कि मनुष्य के कुछ भाग को समाप्त किया। कुछ समय ताडव किया। इन्सान को जानवर बनाया और फिर लौटकर वही अहिंसा की शरण मे आया।

अध्यात्म की ऊचाइया भी अहिसा से ही मिलती है। दूसरी ओर ससार का अस्तित्व भी इसी से है।

मरण-प्रविभक्ति

काल एक तन्तुवाय है जो हमारे जीवन के ताने के साथ मरण का वाना बुनता जा रहा है। यह बुनाई धीरे-धीरे आगे बढ़ती जाती है। थोड़ा-सा ध्यान दें, तो अपने ही शारीरिक और मानसिक परिवर्तनो को देखकर हम इसे अच्छी तरह से समझ भी सकते है। जिस क्षण यह बुनाई समाप्त हो जायेगी, उसी क्षण हमारी भव यात्रा का यह एक 'थान' समेट-सहेज कर रख दिया जायेगा और फिर दूसरा ताना-वाना प्रारम्भ कर दिया जायेगा। इस प्रकार 'पुनरपि जनन पुनरपि मरण' का यह क्रम अनादि काल से चलता आया है और आगे भी तब तक चलता रहेगा, जब तक कि उसे भंग कर देने वाली कोई स्थिति उत्पन्न नही कर दी जायेगी।

जीवन, जन्म और मृत्यु

जीवन का प्रारम्भ जन्म से होता है और पर्यवसान मृत्यु से। वस्तुत ये तीनो एक ही प्रक्रिया के विभिन्न अग है। इस प्रक्रिया के ओर तथा छोर को क्रमश जन्म तथा मृत्यु कहा जाता है, जबकि मध्य को जीवन। समय की दृष्टि मे जीवन की अवधि अपेक्षाकृत लम्बी होती है, किन्तु जन्म और मृत्यु की अत्यन्त छोटी। छोटी भी इतनी कि स्वय जन्मने या मरने वाले को उस क्षण का कदाचित् भान तक हो पाना भी सम्भव नही है। सम्भवत यही वह प्रबलतम कारण है, जिससे कीट-पतग से लेकर मनुष्य तक सभी प्राणी जीवन से अत्यन्त प्यार करते है और हर सम्भव उपाय से उसकी सुरक्षा करते है।

साधारणतया किसी भी प्राणी को यह पता नही होता कि जन्म से पूर्व वह कहा था और मृत्यु के पश्चात् कहा होगा। उसे यह पता भी नही होता कि वह कौन-सा कारण है, जिससे वह किसी अज्ञात क्षेत्र से आकर जन्म के द्वार से इस जीवन मे प्रविष्ट हुआ है तथा क्यो फिर मृत्यु के द्वार से उसी अज्ञात क्षेत्र मे पुन चला जायेगा। उसके सम्मुख तो केवल जीवन ही प्रत्यक्ष होता है, अतः उसी की सुरक्षा मे अपनी समग्र शक्ति लगा देने मे वह अपना कल्याण समझता है। मृत्यु से वह इसीलिए डरता है कि वह उसे जीवन से विमुक्त कर देती है। जन्म से उसे

कोई भय नही लगता, क्योकि वह घटना उसके साथ घटित हो चुकी है। जो हो चुका होता है और नि शेष रूप से हो चुका होता है, उसके विषय मे कोई भय शेष नही रह जाता। भय तो उसी से है, जो घटित होने को शेष है। वह भय तव तीव्रतर या तीव्रतम हो जाता है, जबकि भावी घटना की अनुकूलता या प्रतिकूलता पूर्णत अन्धकाराच्छन्न होती है।

जन्म और मरण, एक दूसरे के पूरक

मृत्यु से घबराने का एक दूसरा कारण यह भी है कि अधिकाश व्यक्तियो का ध्यान जीवन पर ही केन्द्रित रहता है। मृत्यु के विषय मे कुछ सोचा जा सकता है या सोचना आवश्यक है, इस पहलू से वे पूर्णत अनभिज्ञ ही रहते है। इसलिए जिस आस्था और पुरुपार्थ के साथ वे जीवन की तैयारी करते है, मरण की नही कर पाते। मरण की तैयारी करने की वात अनेक लोगो को विचित्र लग सकती है, परन्तु गेहराई से सोचने पर उसकी आवश्यकता से कोई इनकार नही कर सकता। जीवन-पट को अपने पूर्ण विस्तार की स्थिति तक फैला देना ही पर्याप्य नही होता, उसे समेटने की कला भी आनी चाहिए। किसी भी कार्य का प्रारम्भ कर उसकी पूर्ति को भवितव्यता पर छोड देना कोई वुद्धिमत्ता नही है, तो फिर जीवन की पूर्ति को ही भवितव्यता पर क्यो छोड देना चाहिए? उसकी भी वैसे ही व्यवस्थित तैयारी की जानी चाहिए, जैसी की अन्य कार्यो मे की जाती है। जागरण के पश्चात् जिस उत्साह से मनुष्य प्रात काल अपना कार्य प्रारम्भ करता है, क्या थक जाने पर रात को उसी उत्साह से वह शयन की तैयारी नही करता? जागरण और शयन एक-दूसरे के पूरक होते हैं, वैसे ही जन्म और मरण भी।

जन्म के विपय मे हम अपनी ओर मे कुछ भी चुनाव नही कर सकते। स्थान, समय, प्रकार आदि सव कुछ दैवायत्त होता है, परन्तु मरण के विपय मे यह वात उतनी कठोरता से लागू नही होती। कुछ रूपो मे हम अपने मरण के विषय मे चुनाव कर सकते है। महारथी कर्ण ने **'दैवायत्त कुले जन्म, मदायत्त तु पौरुषम्'** इस कथन के द्वारा यह स्पप्ट किया हैं, कि मेरा जन्म किस कुल मे हो, यह तो दैवाधीन था, परन्तु जीवन मे मुझे जो कुछ वनना था, उसके अनुरूप पौरुप करना मेरे अपने अधीन था। मैंने उसी पौरुप के वल पर अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया है। हम यहा इतना और वढा सकते हे कि जीवन जी लेने के पश्चात् हमे किस प्रकार से मरना हे, इसका चुनाव करना भी हमारे अपने अधीन है। जीवन को सुचारु रूप से जीने के उपाय हमारे लिए उपयुक्त है, तो सुचारु रूप से उसकी समाप्ति—मरण के उपाय भी हमारे लिए गवेपणीय और उपयोजनीय हैं। जन्म ग्रहण करने के साथ ही इतना तो सुनिश्चित हो जाता है कि उसकी मृत्यु

अवश्यम्भावी है।[1] प्रश्न इतना ही शेष रह जाता है कि जीवन की तरह क्या हम अपनी मृत्यु को भी सफल बनाने की सोच सकते है ?

मृत्यु की आकाक्षा : समाधिमरण

साधारणतया अध्यात्म-क्षेत्र मे जीवन और मरण, इन दोनो की ही आकाक्षा वर्जनीय है।[2] इन दोनो की भावनाओ से ऊपर उठकर तथा इन दोनो मे समान भाव साधकर रहना ही साधक के लिए उद्दिष्ट है। परन्तु विशिष्ट स्थितियो मे मृत्यु की आकाक्षा भी विहित है।[3] ऐसे समय मे 'सलेखना' के द्वारा समाधिमरण प्राप्त करने को 'पण्डितमरण' कहा गया है। निराशा, भय, असफलता तथा कषायादि वश जीवन को समाप्त कर डालना 'आत्म-हत्या है। उसे शास्त्रकारो ने 'बाल मरण' कहा है। पण्डित-मरण या समाधि-मरण की प्रक्रिया उससे सर्वथा भिन्न होती है। मुमुक्षु के लिए शरीर का महत्त्व तभी तक है, जब तक वह समता मूलक सयम की आराधना मे सहायक बनता है। तदनतर जीर्ण वस्त्र के समान अनासक्त भाव से उसका विसर्जन ही श्रेयस्कर माना गया है।[4] विषय-कषायादि मे आसक्त मनुष्य जहा जन्म का उत्सव मनाते है, वहा ससार-विरक्त मनुष्य अपनी मृत्यु का उत्सव मनाते है। जो मृत्यु सासारिको के लिए भय का कारण बनती है ज्ञानियो के लिए वही प्रमोद का कारण बन जाती है।[5]

नित्य मरण तद्भव मरण

सैद्धातिक भाषा मे आयुष्य, इन्द्रिय, मन, वचन, काया और श्वासोच्छ्वास-बल रूप प्राणो के सयोग का नाम जन्म है, तथा उनके सर्वथा क्षीण हो जाने का नाम मरण। जन्म के पश्चात् एव मरण के पूर्व आयुष्य आदि का जो प्रतिक्षण भोग व निर्जरण होता रहता है, उसे जीवन कहा जाता है। दिगम्बराचार्य अकलक ने प्रतिक्षण होने

---

१ जातस्य हि ध्रुव मृत्यु, ध्रुव जन्म मृतस्य च —गीता २-२७

२ (क) जीविय नाभिकखेज्जा, मरण नाविपत्थए। —आचाराग-८-८-४

(ख) नाभिनन्देत मरण, नाभिनन्देत जीवितम्।

—महाभारत, शान्तिपर्व २४५-१५

३ तओ काले अभिप्पेए, सड्ढी तालिसमतिए।
विणएज्ज लोमहरिस, भेय देहस्स कखए। —उत्तराध्ययन-५-३१

४ वासासि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही।—गीता-२-२२

५ ससारासक्तचित्ताना, मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुन सोऽपि, ज्ञान-वैराग्यवासिनाम्॥ —मृत्यु महोत्सव-१७

वाले ह्रास की दृष्टि से इस जीवन को भी मरण का ही एक भेद माना है। उनके अनुसार मरण के दो भेद है—नित्य मरण और तद्भव-मरण। प्रतिक्षण आयुष्य आदि का जो ह्रास होता है, वह नित्य-मरण है तथा प्राप्त शरीर का समूल नाश हो जाना तद्भव-मरण है।[1]

विशुद्धि और उपाय

जीवन की विशुद्धि के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप विविध उपाय बतलाये गये है। इनके द्वारा आत्मा को भावित करते हुए प्रतिक्षण सावधानी पूर्वक आगे बढने का निर्देश है। जीवन की स्वल्पकालिकता और बहुविघ्नयुक्तता सर्व-विदित है, अत एक क्षण का भी प्रमाद किये विना निरन्तर पूर्वकृत कर्मो की मलिनता को दूर करते रहना आवश्यक है।[2]

जीवन-समाप्ति अथवा मरण-प्राप्ति का जब अवसर आता है, तब साधक उसका उपयोग भी आत्म-विशुद्धि के लिए करता है। वह कभी मृत्यु से घबराता नही।[3] आत्म-विशुद्धि के मार्ग मे जीवन-शुद्धि का जितना मूल्य है, उतना ही मरण-शुद्धि का भी। जीवन शुद्धि के लिए किए गए सारे कार्यो का महत्त्व तब और भी बढ जाता है, जबकि मनुष्य अनशन के द्वारा समाधि मरण प्राप्त करता है। वस्तुत निरन्तर अभ्यस्त शास्त्र-ज्ञान चिरपालित व्रतो और बहुविध किए गए उग्र तपो का एक मात्र यही तो फल है कि वह आत्मानुभव करने के साथ-साथ शान्त भाव से समाधि मरण प्राप्त करे।[4] ऐसा मरण भव सन्तति को समाप्त कर देने वाला होता है। जन्म और मृत्यु का अनादिकालीन प्रवाह उसके द्वारा या तो पूर्णत अवरुद्ध हो जाता है या फिर अवरुद्ध होने के समीप तक आ जाता है।

इत्वरिक और मारणान्तिक

अनशन के दो भेद किये जाते है—इत्वरिक और मारणान्तिक। समय की अवधि

१ मरण द्विविध-नित्य मरण तद्भव मरण चेति, तत्र नित्य-मरण समये-समये स्वायुरादीना निवृत्ति तद्भव मरण भवान्तर प्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्ट पूर्वभव निगमनम्।

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक ७-२२

२ इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए,
विहुणाहि रय पुरे कड, समय गोयम ! मा पमायए। —उत्तराध्ययन १०-३

३ न सतसति मरणते, सीलवता बहुस्सुया। —उत्तराध्ययन ५-२९

४ तप्तस्य तपसश्चापि, पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि, फल मृत्यु समाधिना। मृत्यु-महोत्सव-२३

पूर्वक जो आहार प्रत्याख्यान किया जाता है, वह **'इत्वरिक'** और मरण पर्यन्त किया जाता है, वह **'मारणान्तिक'** या यावत्कथिक कहलाता है। प्रथम मे अवधि पूर्ण होने पर भोजन की आकांक्षा को अवकाश रहता है, परन्तु दूसरे मे वैसा कोई अवकाश नही रहता।[1] इस यावत्कथित अनशन को सथारा या मारणान्तिक सलेखना भी कहा जाता है। इस उच्च साधना मे साधक जीवन की कामना से ऊपर उठ जाता है और अपने सभी भावो को अध्यात्म मे इतना लीन कर लेता है कि उसे आहार के अभाव मे भी किसी प्रकार का क्लेश नही होता।[2]

मारणान्तिक सलेखना वस्तुतः मृत्यु को एक आह्वान है। जीवन, जो कि सभी प्राणियो को सर्वाधिक प्रिय होता है, उसे स्वेच्छापूर्वक छोडकर मरण के सम्मुख जाना और उसको आदरणीय अतिथि की तरह निमत्रित करना सहज कार्य नहीं है। ऐसा सहस्रो मे तो क्या, लाखो मे भी कोई एक ही कर सकता है। बहुधा तो यही देखा जाता है कि मृत्यु पीछा करती है, तब हर कोई किसी भी मूल्य पर अपने प्राण बचाने के लिए आतुर हो उठता है। उस समय उसकी स्थिति शिकारी द्वारा पीछा किये जाने वाले कातर हरिण की-सी होती है। परन्तु क्या मृत्यु का यही एक मात्र प्रकार है या इससे उच्च तथा आदर्श प्रेरित कोई अन्य प्रकार भी हो सकता है, इसका उत्तर जैन धर्म की अनशन-पद्धति देती है। इस पद्धति से मनुष्य कातर हरिण जैसी विवशता की मृत्यु के स्थान पर वीरोचित मृत्यु का वरण कर सकता है। यो तो युद्ध में प्राणाहुति देने वाले योद्धा को भी वीर कहा जाता है, परन्तु उसमे उसका आदर्श मरना नही, अपितु मारना होता है। फिर भी वह मरने का खतरा उठाता है। इस आधार पर उसे वीर कहा जाता है। अनशन में किसी अन्य को मारने की तो क्या, पीडा पहुचाने तक की भावना भी नही होती। उसमे तो केवल अपनी आहुति देते हुए समाधिपूर्वक मरण को वरण किया जाता है, अत यह वीर-वृत्ति अन्य सभी प्रकार की वीरवृत्तियो से पृथक् प्रकार की तो होती ही है, साथ ही पूर्णत उदात्त और पवित्र भी होती है।

उच्च और पवित्र ध्येय को सामने रखते हुए जीना उत्कृष्ट जीवन है, उसी प्रकार उसी ध्येय की प्राप्ति मे मरना उत्कृष्ट मरण। जिन व्यक्तियो का यथा-तथा जी लेने मात्र मे ही विश्वास होता है, वे अवसर आने पर भी मरण को स्वेच्छया

---

१ इत्तरिय मरणकालाय, अणसणा दुविहा भवे।
इत्तरिया सावकखा, निरवकखा उ विइज्जिया॥ उत्तराध्ययन ३०-९

२ आहारपच्चक्खाणे ण जीवियासप्पओग वोच्छिदइ,
जीवियासप्पओग वोच्छिदित्ता जीवे आहारमतरेण न सकिलिस्सइ।
उत्तराध्ययन-२९-३५

स्वीकार नही कर पाते। ऐसे व्यक्ति न जीवन के रहस्य को पहचानते है और न मरण के। ऐसे लोगो के लिए यही कहा जा सकता है—'**यज्जीवति तन्मरण, यन्मरण सास्य विश्रान्तिः**' अर्थात् उनका वह निस्तेज जीवन ही उनके व्यक्तित्व का मरण है। उसके बाद जो उनका शरीर-पात होता है, वह तो मात्र उनकी विश्रान्ति है।

उपकरणो मे देखा जाता है। परन्तु इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि सारे पुद्गल दृष्टि-ग्राह्य ही होते है। वहुत सारे पुद्गल, अनन्त परमाणुओ के पिण्डीभूत स्कध होने पर भी न दृष्टि-ग्राह्य होते है और न यत्र-ग्राह्य ही। पुद्गलो की यह दृश्यता और अदृश्यता वास्तव मे उनके परिणति-भेद से सम्वद्ध होती है। पुद्गल की परिणति दो प्रकार की मानी जाती है—सूक्ष्म और वादर (स्थूल)।

सूक्ष्म परिणति वाले पुद्गल अनन्तानन्त स्कधो के रूप मे एकत्रित होने पर भी तव तक दिखाई नही दे सकते, जव तक कि उनकी स्थूल परिणति नही हो जाती। सूक्ष्म परिणति वाले पुद्गलो मे प्रथम चार स्पर्श मिलते है, अत उन्हे चतु स्पर्शी कहा जाता है। वे जव सूक्ष्म-परिणति से हटकर स्थूल-परिणति मे आते है, तव उसके साथ ही उनमे उत्तरवर्ती चार स्पर्शो की भी अभिवृद्धि हो जाती है। वे फिर अष्ट स्पर्शी स्कध कहलाते है। ये स्पर्श पूर्ववर्ती चार स्पर्शो के सापेक्ष सयोग मे वनते है, जैसे—रूक्ष स्पर्शी परमाणुओ के वाहुल्य से लघुस्पर्श, स्निग्ध स्पर्शी परमाणुओ के वाहुल्य से गुरु स्पर्श, शीत व स्निग्ध स्पर्शी परमाणुओ के वाहुल्य मे मृदु स्पर्श और उष्ण व रूक्ष स्पर्शी परमाणुओ के वाहुल्य से कर्कश स्पर्श वनता है।

इनके अतिरिक्त शब्द, वन्ध, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत आदि सभी पुद्गलो की ही विभिन्न परिणतिया हैं। ससार मे न कभी एक परमाणु घटता है और न कभी एक वढता है, केवल उनकी विभिन्न परिणतियो के कारण ही दृश्य जगत् की सारी उथल-पुथल होती रहती है।

पुद्गलो का परिणमन जव किसी प्रकार की वाह्य प्रेरणा के विना स्वभावत होता है, तव वे वैस्रसिक कहलाते हैं। जीव के प्रयोग से शरीरादि रूप मे परिणत पुद्गल प्रायोगिक और जीव मुक्त होने पर भी जिनका प्रायोगिक परिणमन जव तक नही छूटता तव तक वे पुद्गल अथवा जीव प्रयत्न और स्वभाव—दोनो के सयोग से परिणत पुद्गल मिश्र कहलाते हैं।

जीव के साथ सम्वद्ध पुद्गल

पुद्गल का अन्य पुद्गल के साथ तो मिलन होता ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त जीव द्वारा भी उसका ग्रहण किया जाता है। जीव अपनी विभिन्न क्रियाओ के द्वारा पुद्गलो को आकृष्ट करता है, तव वे उसके साथ सलग्न होते है और उसे अनेक प्रकार से प्रभावित करते है। पुद्गलो पर जीवो के और जीवो पर पुद्गलो के विभिन्न प्रभावो के परिणामस्वरूप ही सृष्टि की सारी विचित्रताए घटित होती रहती है। जीव के साथ सम्वन्ध होने योग्य पुद्गलो को मुख्यत. आठ वर्गणाओ-श्रेणियो मे विभक्त किया जाता है—

१ औदारिक वर्गणा—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवो के स्थूल शरीर के निर्माण मे काम आने योग्य पुद्गल-समूह।
२ वैक्रिय वर्गणा—दृश्य-अदृश्य, छोटा-बडा, हल्का-भारी आदि विभिन्न क्रियाए करने मे समर्थ शरीर के योग्य पुद्गल-समूह।
३ आहारक वर्गणा—योग-शक्ति जन्य शरीर के पुद्गल-समूह।
४ तैजस वर्गणा—ऊष्मा, तेज या वैद्युतिक पुद्गल-समूह।
५ भाषा वर्गणा—वचनरूप मे परिणत होने योग्य पुद्गल-समूह।
६ श्वासोच्छ्वास वर्गणा—जीवो के श्वास और उच्छ्वास मे प्रयुक्त होने योग्य पुद्गल-समूह।
७ मनो वर्गणा—चिन्तन मे सहायक बनने योग्य पुद्गल-समूह।
८ कार्मण वर्गणा—जीवो की सत्-असत् प्रवृत्तियो से आकृष्ट होकर कर्मरूप मे परिणत होने योग्य पुद्गल-समूह।

उपर्युक्त वर्गणाओ के अवयव क्रमश अधिकाधिक सूक्ष्म और अधिकाधिक प्रचय वाले होते है।[1] ये वर्गणाए परस्पर सर्वथा भिन्न नही है, अत प्रत्येक वर्गणा के पुद्गलो की वर्गणान्तर परिणति सभव है। प्रथम चार वर्गणाओ के पुद्गल-स्कध अष्टस्पर्शी अर्थात्—शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, मृदु और कर्कश—इन आठो स्पर्शो से युक्त होते है। अन्तिम चार वर्गणाओ के पुद्गल स्कध चतु स्पर्शी-अर्थात्—शीत, उष्ण, रुक्ष, स्निग्ध—इन चार स्पर्शो से युक्त होते है।

इस प्रकार हम देखते है कि पुद्गल का जैविक ससार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। पुद्गल-वर्गणाओ को ग्रहण किये बिना किसी भी जीव का कोई भी कार्य एक क्षण के लिए भी चल नही सकता। सुख-दु खानुभूति से लेकर श्वासोच्छ्वास तक की उसकी प्रत्येक क्रिया पुद्गल-प्रभावित है। यहा तक कि सब क्रियाओ का अधिष्ठान उसका स्थूल या सूक्ष्म शरीर भी पुद्गल-सभूत है।

हमारे शरीर से प्रतिक्षण प्रतिबिम्बात्मक पुद्गलो का प्रक्षेप होता रहता है, हमारे प्रत्येक चिन्तन मे जो मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण होते हैं, वे तदनुकूल आकृतियो मे परिणत होकर अगले ही क्षण वहा मे मुक्त होकर आकाश-मण्डल मे फैल जाते हैं। हमारी प्रत्येक ध्वनि या शब्द पहले भाषा-वर्गणा के पुद्गलो के रूप मे ग्रहण होते हैं, उसके पश्चात् ही यदि वे तीव्र प्रयत्न से उत्सृष्ट हुए हो, तो अति सूक्ष्म काल मे ही वे लोकान्त तक ऊर्मियो के रूप मे फैलते चले जाते हैं। उपर्युक्त सभी प्रकार के पुद्गल-स्कध असख्यकाल तक उसी रूप मे ठहर भी सकते है।

१ ओरालविउव्वाहार, तेयभासाणु पाण मण कम्मे
अहदव्ववग्गणाण, कमो विवज्जास ओरवत्ते। १-१५ —कर्मग्रन्थ (पचम) ७

उपयुक्त साधन उपलब्ध हो तो हजारो वर्ष पूर्व के व्यक्तियो की आकृतिया, उनका चिन्तन और शब्द आज भी पकडे जा सकते है।

जैन चिन्तको ने ईसा की अनेक शताब्दियो पूर्व पुद्गल या परमाणु विषयक जो अन्वेषण किया था, वह बहुत मौलिक और महत्त्वपूर्ण है। आज के विज्ञान की अन्वेषणाओ को उससे बहुत कुछ मार्ग-दर्शन मिल सकता है।

चिन्तन : अनुचिन्तन

अक्षय तृतीया : एक महान् तपःपर्व

आदि स्रोत

जैन समाज मे वर्षी तप करने का प्रचलन काफी लम्बे समय से रहा है। कहा जा सकता है कि इसका प्रारभ पुराण-पुरुप भगवान् ऋषभदेव के घोर तप की स्मृति एव अनुकरण के रूप मे हुआ। भगवान् ऋषभ वर्तमान मानव-परम्परा के आदि पुरुष थे, अत उन्हे आदिनाथ कहा जाता है। वर्तमान जैन धर्म के महत्तम पुरुष चौवीस तीर्थंकरो मे वे प्रथम तीर्थंकर थे। सामूहिक जीवन-व्यवस्था, राजव्यवस्था और दण्ड-व्यवस्था के आद्य अकुर उन्ही के द्वारा उत्पन्न किए गए थे। अध्यात्म के आदि स्रोत भी वे ही थे। वे सप्तम कुलकर नाभि और मरुदेवी के पुत्र थे। चैत्र कृष्णा अष्टमी को उनका जन्म हुआ।

यौगलिक युग

जैन काल-गणना के अनुसार एक काल-चक्र पूर्ण होने पर क्रमिक विकास और ह्रास का भी एक चक्र पूरा हो जाता है। फलत सारी स्थितिया पुन पूर्व रूप मे आ जाती है। प्रत्येक काल-चक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—ये दो विभाग होते है। प्रत्येक विभाग के छह 'अर' या विभागाश होते है। भगवान् ऋषभ अवसर्पिणी काल मे उत्पन्न हुए, उस समय तक उसके प्रथम दो 'अर' पूर्ण हो चुके थे। तीसरे का वहुलाश व्यतीत हो चुका था। अवसर्पिणी काल के उस समय को यौगलिक युग कहा जा सकता है। पुरुष और स्त्री का युगल ही उस समय सव कुछ था। प्रत्येक युगल अपने जीवन काल मे स्वभावत मात्र एक नये युगल को जन्म देता था। न जन-सख्या की वृद्धि थी और न ह्रास। कुल, वर्ग और जाति भी नही थी। जन्य-जनक एव पति-पत्नी के अतिरिक्त सम्वन्ध विकसित नही हुए थे। सभी व्यक्ति सरल, शान्त और आशुतोष प्रकृति के होते थे। अशन, वसन, निवास आदि की वहुत सीमित आकाक्षाए थी। उन सवकी पूर्ति कल्पवृक्षो द्वारा हो जाती थी। काम करके जीविका प्राप्त करने की आवश्यकता नही थी। सग्रह, चोरी और असत्य के

मनोभाव उत्पन्न नही हुए थे। वैर, विरोध और झगड़े भी नही थे। सभी व्यक्ति सहज आनन्द की अनुभूति मे जीवन-यापन करते थे।

कुलकर व्यवस्था

काल का चक्र घूमा। धीरे-धीरे भूमि की सरसता मे कमी आई। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की श्रेष्ठता अपेक्षाकृत न्यून हुई। फलत कल्पवृक्षो की शक्ति और सख्या भी क्षीण होती चली गई। आवश्यकता पूर्ति के साधन कम होने लगे तब मुक्त साधनो पर अधिकार जमाने का भाव जागा। इस स्थिति ने आपसी सघर्ष को जन्म दिया। आपाधापी और अपराधवृत्ति बढने लगी। यौगलिक व्यवस्था चरमराई तो लोग क्षेत्रीय आधार पर सगठित होने लगे। इन सगठनो को 'कुल' कहा गया। देखरेख और नियत्रण के लिए एक व्यक्ति को मुखिया बनाया गया। उसे 'कुलकर' नाम दिया गया। वह न्याय करने तथा अन्यायी को दड देने का अधिकारी भी था।

कुलकर व्यवस्था सात पीढियो तक चली। इसे राजतन्त्र का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। सात कुलकरो के नाम क्रमश इस प्रकार है—विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, प्रसेनजित, मरुदेव और नाभि। प्रथम दो कुलकरो के युग मे सामान्य अपराध होने लगे थे। अपराध-विरति के लिए दड रूप से 'हाकार' नीति का प्रयोग किया जाने लगा। 'हाय! तूने यह क्या किया!' इतना कहने मात्र मे दोषी लज्जित हो जाता और आगे के लिए वैसा करने का साहस नही करता। खेद प्रकाशन का यह दड कालान्तर मे सहज हो गया। तब अगली दो पीढियो मे 'माकार' नीति का प्रयोग विकसित हुआ। सामान्य दोषो के लिए 'हाकार' और विशेष दोषो के लिए 'माकार' अर्थात् 'ऐसा मत करो'—यह निषेधात्मक दंड काम मे लिया गया। जब यह दंड भी स्वल्प प्रभावी होने लगा तब पाचवी, छठी और सातवी पीढी के कुलकरो ने 'धिक्कार' नीति का अवलम्बन लिया। छोटे दोषो के लिए 'हाकार' मध्यम दोषो के लिए 'माकार' और बड़े दोषो के लिए 'धिक्कार' कहकर दोषकर्ता को तिरस्कृत किया जाता।

राज-व्यवस्था

सप्तम कुलकर नाभि के नेतृत्व काल तक आते-आते पूर्वापेक्षा मे भूमि की सरसता मे भारी अन्तर आ गया। कल्पवृक्षो की सख्या अति न्यून हो गई। अशन-वसन की दुर्लभता ने शान्त और प्रसन्न रहने वाले युगलो मे अशाति के बीज अकुरित किये। वे परस्पर झगडने लगे। धिक्कार नीति तक के शाब्दिक दडो की व्यवस्था अनुपयोगी हो गई। प्राचीन युगलो ने कभी क्रोध एव झगडो की स्थिति नही देखी थी। वे घबराये और मिलकर नाभि एव कुमार ऋषभ को सूचित करने आये।

राज-व्यवस्था की कल्पना उभरी और फिर नाभि के आदेश से ऋषभ को राजा घोषित किया गया।

ऋषभ प्रथम राजा बने। उन्होने अपने विशिष्ट ज्ञान के बल पर जीवन-व्यवस्था मे आमूल-चूल परिवर्तन करने की योजना को कार्यान्वित करना प्रारभ किया। गावो और नगरो का निर्माण प्रारभ हुआ। राजधानी के रूप मे जो नगर बसा, उसका नाम 'विनीता' रखा गया। कालान्तर मे उसे 'अयोध्या' कहा जाने लगा। लोग वनवासी सस्कारो से हटकर गृहवासी बनने लगे। सुख एव समृद्धि के लिए पशु-पालन की पद्धति भी विकसित हुई। गायो, घोडो, और हाथियो का विशेष उपयोग होने लगा।

राज ऋषभ ने प्रजा को सतानवत् पालना प्रारभ किया। राज्य की सुव्यवस्था के लिए उन्होने विभिन्न अधिकार सपन्न चार प्रकार के कुलो की स्थापना की। उनके नाम थे—उग्र, भोग, राजन्य और क्षत्रिय।

(१) नागरिक जीवन व्यवस्थित चलता रहे और चोर-लुटेरे आदि प्रजापीडक लोग दडित किये जा सके—इसलिए आरक्षी दलो की नियुक्ति की गई। ये लोग उग्रकुल मे गिने गये।

(२) समग्र राज्य के सज्जनो की सुरक्षा एव दुर्जनो के नियत्रण हेतु मत्रणा कर उचित व्यवस्था देने वाली मत्रि-परिषद् का गठन किया गया। वे भोगकुल मे गिने गये।

(३) राजा ऋषभ के जो समवयस्क उनके निर्दिष्ट कार्यो को सपन्न करने हेतु नियुक्त किये गये तथा जिन्हे दूरस्थ क्षेत्रो का प्रतिनिधित्व सौंपा गया, वे राजन्य कुल के कहलाए।

(४) राज्य की शक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसलिए चतुरग सेना एव सेनापतियो की नियुक्ति की गई, वे सब क्षत्रिय कहलाये।

राज्य का अनुशासन भग करने वालो तथा प्रजापीडको को रोध, बन्धन एव ताडन के रूप मे शारीरिक दड का विधान उसी समय से प्रारम्भ किया गया।

विवाह-पद्धति का प्रारम्भ

ऋषभ के शैशव-काल से ही युग मे बदलाव के चिह्न स्पष्ट होने लगे थे। उस समय तक हर युगल का जन्म एव मरण साथ-साथ मे ही होता था। परन्तु एक दुर्घटना ने उस स्थिति मे आने वाले शैथिल्य की सूचना दे दी। एक माता-पिता ने अपने नवजात युगल शिशुओ को ताडवृक्ष के नीचे सुला दिया। अचानक फल टूटकर बालक के सिर पर गिरा और उसकी मृत्यु हो गई। उस युग की वह प्रथम-अकाल मृत्यु थी। कालान्तर मे माता-पिता भी मर गये, तब बालिका अकेली रह गई। उसका अकेलापन सभी के लिए आश्चर्य की बात थी। लोग उसे कुलकर नाभि के

पास लाये । उन्होंने उसे अपने युवापुत्र ऋषभ को पत्नी के रूप मे सौंप दिया। ऋषभ ने अपनी सहोदरी सुमंगला के साथ-साथ सुनन्दा से भी विवाह किया। तभी से विवाह-पद्धति का प्रचलन हुआ । उसके बाद लोग सहोदरी के अतिरिक्त अन्य कन्याओ से विवाह करने लगे ।

खाद्य-समस्या का हल

कुलकर-व्यवस्था के प्रारभ काल से ही कल्पवृक्षो का क्रमिक ह्रास प्रारभ हो गया था । उस समय लोगो ने अन्य वृक्षो के फल तथा कद, मूल आदि को भोजन-सामग्री बनाया। बाद मे वनवास छोडकर ग्राम या नगर वास प्रारंभ होने पर कंदमूल एव फलो की भी सर्व-सुलभता नही रही । ऋषभ ने तब मनुष्य द्वारा बोये जाने योग्य शाली, गोधूम, चणक आदि भोज्य अन्नो को चुना और कृषि पद्धति द्वारा उन्हे बोने एव सगृहीत करने की विधि सिखलाई ।

वातावरण मे अति स्निग्धता होने के कारण उस समय तक अग्नि उत्पन्न नही हुई थी । कालान्तर मे स्निग्धता के साथ रूक्षता का आनुपातिक योग बना, तब वृक्षो के पारस्परिक घर्षण से अग्नि उत्पन्न हुई । वह फैली और वन जलने लगा। नयी वस्तु देखकर लोग भयभीत हुए। उन्होंने ऋषभ को उसकी सूचना दी। उन्होंने लोगो को अग्नि के उपयोग तथा पाक विद्या का प्रशिक्षण दिया। खाद्य समस्या का सहज हल उपलब्ध हो गया ।

कला, शिल्प और व्यवसाय

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुरुषोपयोगी ७२ कलाओ का प्रशिक्षण दिया। कनिष्ठ पुत्र बाहुबलि को विभिन्न प्राणियो के लक्षणो का ज्ञान दिया। बडी पुत्री ब्राह्मी को लिपि-ज्ञान और छोटी पुत्री सुन्दरी को गणित-ज्ञान दिया । उन दोनो को स्त्री-जनोपयोगी ६४ कलाए भी सिखलाई । इनके अतिरिक्त चिकित्सा, अर्थ और धनुर्विद्या आदि विभिन्न विद्याओ का प्रशिक्षण देकर लोगो को सुव्यवस्थित और सुसस्कृत बनाया ।

जनोपयोगी वस्तुओ के निर्माण-प्रशिक्षण मे अनेक प्रकार के शिल्पो का उद्भव हुआ । निवास के लिए गृह-निर्माण, अन्न आदि पकाने के लिए पात्र-निर्माण, कृषि, गृह एव युद्ध आदि मे उपयोगी यन्त्रो-औजारो का निर्माण, वस्त्र-निर्माण चित्रकारी तथा क्षौर कर्म आदि।

पदार्थो का विकास हुआ तब उनके विनिमय की भी आवश्यकता हुई, फलत व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया गया। वस्तुओ के आयात-निर्यात तथा यातायात की सुलभता के लिए शकट, रथ आदि वाहनो का निर्माण हुआ। पदार्थ बढे तो सग्रह

का भाव जागा, ममत्व बढा, वस्तु और व्यक्ति निज-पर की तुला पर तोले जाने लगे। लोकैषणा और धनैषणा की ओर लोक-मानस-खिचने लगा।

साधना मार्ग पर

कर्त्तव्य बुद्धि से लोक व्यवस्था को गति देते हुए ऋषभ ने लम्बे समय तक राज्य किया। उनके राज्य काल मे यौगलिक जीवन का पूर्ण रूप से मानवीकरण हो गया। सामाजिक विकास के साथ-साथ अनेक परम्पराए उत्पन्न हुई। जन्म, विवाह आदि अवसरो पर उत्सव तथा मृत्यु आदि पर शोक मनाया जाने लगा।

जीवन के अग्रिम भाग मे ऋषभ भोगवाद से विरत होकर त्याग एव सयम की ओर उन्मुख हुए। वे जन्म से ही अवधिज्ञानी (एक प्रकार के अतीन्द्रिय ज्ञान युक्त) थे। उसी के आधार पर उन्होने पहले लोक-धर्म का प्रवर्त्तन किया। उसके सुस्थिर हो जाने के पश्चात् उत्तरकाल मे उससे भी आगे लोकोत्तर धर्म या मोक्ष धर्म के प्रवर्त्तन की तैयारी की। राज्य की सुव्यवस्था चालू रहे इसलिए ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। बाहुबलि आदि शेष ९९ पुत्रो को भी अलग-अलग राज्यो का भार सौपा। उसके पश्चात् चैत्र कृष्णा अष्टमी को उन्होने आत्म-साधना के मार्ग पर चरण-न्यास कर दिया।

ऋषभ ने सयम व्रत के साथ ही मौन ग्रहण कर लिया। उस समय के लोग आहार-दान की विधि से सर्वथा अपरिचित थे। कोई याचक था ही नही। भगवान् पैदल विहार करते और आहार-याचना के लिए जाते। उन्हे अपने घर आया देखकर लोग गद्गद हो जाते। अश्व, रथ, आभूषण आदि भेट ग्रहण करने का आग्रह करते, परन्तु भोजन के लिए कोई नही पूछता। इतनी छोटी चीज के लिए पूछना किसी को याद ही नही आता। अन्तराय कर्म का अनिवार्य उदय समझकर भगवान् निराहार ही विचरण करते रहे। वे अनन्त शक्ति सम्पन्न थे, अत. उस दुस्सह परीषह मे भी अडोल रहे।

उनके साथ चार हजार व्यक्ति दीक्षित हुए थे, परन्तु किसी को साधना-पद्धति का ज्ञान नही था। सभी भगवान् का अनुसरण एव अनुकरण करते रहे। मौनी बन कर बुभुक्षित विचरण करते रहना उनके लिए कुछ ही दिनो मे असभव हो गया। बार-बार पूछने पर भी भगवान् ने अपना मौन नही खोला तब वे सब अपनी-अपनी मन कल्पित साधना करने लगे। घर छोड देने के पश्चात् वापस वहा जाना उपयुक्त नही लगा अत वे वनवासी बनकर कदमूल खाने लगे और वल्कल पहन कर रहने लगे।

वर्षी तप और पारण

भगवान् ऋषभ एक वर्ष से भी अधिक समय तक निराहार विचरते रहे। एक बार

वे हस्तिनापुर पधारे। वहा बाहुबलि का पुत्र सोमप्रभ राज्य करता था। उसके पुत्र श्रेयास ने प्रपितामह के आगमन की बात सुनी तो तत्काल राजभवन से बाहर आया और भगवान् के चरणो मे वदन किया। उन्हे मुनिरूप मे देखा तो उसे वह स्वरूप परिचित-सा लगा। ऊहापोह करने पर उसे तत्काल जातिस्मरण ज्ञान हो गया। पूर्व भव मे गृहीत अपनी साधुता और उसकी समग्र चर्या उसके सामने स्पष्ट भासित हो गई। उसने कल्प्य-अकल्प्य को जाना तथा भोजन देने की विधि को भी जाना।

श्रेयास के प्रासाद मे उसी दिन ताजे इक्षु रस से भरे हुए घडे भेंट स्वरूप आये हुए थे। उस समय वही शुद्ध पदार्थ विद्यमान था। कुमार ने उसे ग्रहण करने के लिए बडे श्रद्धासिक्त भाव से प्रार्थना की। भगवान् कर-पात्र ही थे। सर्वथा शुद्ध आहार देखकर उन्होने अपनी दोनो अजलियो को पात्रवत् बनाकर उसमे वह इक्षु-रस ग्रहण किया। एक वर्ष और चालीस दिनो की लम्बी अवधि के पश्चात् उन्होंने प्रथम भोजन किया। वह वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन था।

अक्षय तृतीया

प्रथम दानदाता बनकर श्रेयास ने अक्षय पुण्य तथा यश का अर्जन किया। वह दान भगवान् के महान् तप की सपन्नता मे सहायक बनकर सदा-सदा के लिए अक्षय बन गया। इसीलिए इस तृतीया को अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई। उस दिन इक्षुरस का दान दिया गया था अत इसे इक्षु-तृतीया भी कहा जाता है। यह दिन अब एक महत्त्वपूर्ण पर्व के रूप मे प्रतिष्ठित है। तप पूत इसी दिन को किसी भी शुभ कार्य को प्रारभ करने के लिए एक स्वत सिद्ध शुभ मुहूर्त्त माना जाता है।

वर्तमान वर्षी तप

भगवान् ऋषभ ने सकल्प पूर्वक वर्ष भर के लिए तप प्रारभ नही किया था। वह तो दान-पद्धति की अनभिज्ञता के कारण शुद्ध आहार न मिलने से स्वत ही हो गया था। वर्तमान का वर्षी तप वर्ष भर के लिए सकल्पपूर्वक प्रारभ किया जाता है।

भगवान् का तप चैत्र कृष्णा ८ मे प्रारभ हुआ और उसका पारण अगले वर्ष की वैशाख शुक्ला ३ को पूरा हुआ। वर्तमान के वर्षी तप का सकल्प वैशाख शुक्ला ३ को ग्रहण किया जाता है और वह आगामी दिन मे प्रारभ होकर अगले वर्ष की वैशाख शुक्ला ३ को सपन्न होना है।

भगवान् का वर्षी तप निरन्तर निराहार के रूप मे था, जबकि वर्तमान वर्षी

तप एकान्तर उपवास के रूप मे है। कोई चाहे तो बीच-बीच मे उपवास से अधिक तप भी कर सकता है।

भगवान् का वर्षी तप विनीता (अयोध्या) से प्रारम्भ हुआ और हस्तिनापुर मे सपन्न। वर्तमान का वर्षी तप यो तो किसी भी क्षेत्र से प्रारभ और सपन्न किया जा सकता है, परन्तु तप कर्त्ता बहुधा उसका प्रारभ किसी आचार्य या साधु-साध्वी के पास सकल्प ग्रहण करके करता है, तथा उसकी सपन्नता किसी तीर्थस्थल मे या कीन्ही साधु-साध्वियो या आचार्यो के सान्निध्य मे करने का प्रयास करता है। तेरापथ मे कई वर्षो से इसके सकल्प तो यथा-सुविधा कही भी ग्रहण कर लिये जाते है, परन्तु पारण प्राय सामूहिक रूप से आचार्यश्री के सान्निध्य मे किये जाते है। अक्षय तृतीया का पर्व कहा मनाया जाएगा—इसकी घोषणा आचार्यश्री काफी समय पूर्व ही कर देते है।

संवत्सरी महापर्व और अधिमास

अभेद की ओर अभियान

जैन समाज के विभिन्न सम्प्रदायो मे समन्वय की भावना जागरित हो और वे एक-दूसरे के अधिकाधिक निकट आ सके, ऐसा कोई भी उपक्रम अभिनन्दनीय होगा। विगत युग चाहे कितना ही पारस्परिक विभेद खोजने का क्यो न रहा हो, पर अब उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है। अब तो आगत युग के विषय मे ही सोचना तथा तैयारी करनी चाहिए कि उसमे कितना अभेद खोजा तथा स्थापित किया जा सकता है। अभेद की ओर अभियान करने के प्राथमिक चरणो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होगा, पर्वो की एकरूपता। समग्र जैन समाज की दृष्टि से अब तक मुख्यतः दो पर्व ही ऐसे है, जिन्हे सर्वमान्य कहा जा सकता है। एक भगवान् महावीर का जन्म-दिवस और दूसरा निर्वाण-दिवस। उनमे भी निर्वाण-दिवस दीपावली के रूप मे अखिल भारतीय स्तर का एक सास्कृतिक पर्व बन गया है। वह भगवान् महावीर की निर्वाण-तिथि का ही एक मात्र प्रतीक नही रहा है। उसमे जैनो तथा अजैनो के अनेक सामाजिक, आर्थिक और सास्कृतिक प्रतीक भी सम्मिलित हो गये है। तात्पर्य है कि इस समय का मात्र 'महावीर जयन्ती' का दिन ही ऐसा है, जिसे जैनो के सभी सम्प्रदाय एक साथ मनाकर अपने एकत्व का सुदृढता प्रदान कर सकते है।

विभिन्न परम्पराए

इसके अतिरिक्त 'संवत्सरी' को भी उसी कोटि का सर्वमान्य पर्व बनाया जा सकता है, क्योकि वह दिन सभी श्वेताम्बरो द्वारा बहुमान्य पर्युषण पर्व की सम्पन्नता का दिन है, जबकि दिगम्बरो द्वारा बहुमान्य दश लाक्षणिक पर्व का प्रारम्भिक दिन। किन्तु इसके सम्बन्ध मे अनेक कठिनाइया भी है। एक लम्बे समय से इसकी तिथि-निर्णय मे परस्पर काफी भेद चला आ रहा है। कुछ समर्थ पूर्वाचार्यो ने तद्-विषयक तिथि-निर्णय के लिए अपने सघो मे विभिन्न परम्पराए स्थापित की थी। उस समय वैसा करना निःसन्देह उनके लिए आवश्यक था। तत्कालीन इस क्षेत्र-

काल और भाव को अवश्य ही उन्होने सम्मुख रखकर यह कार्य किया था, फिर भी वे विभिन्न प्रयत्न पृथक्-पृथक् इकाइयो को ध्यान मे रखकर ही हो पाये, अत वे सभी परम्पराए सामष्टिक भावना के लिए साधक नही बन पायी। अब यह प्रश्न सामूहिक चिन्तन के लिए सबके सम्मुख आया है। आचार्यश्री तुलसी ने बीकानेर (वि० स० २०२१) चतुर्मास मे इस विषय पर सामूहिक चिन्तन के लिए धुरीण व्यक्तियो का आह्वान किया था। सभी सम्प्रदायो के चुने हुए व्यक्ति सम्मिलित रुप से इस विषय पर चिंतन करे और एकरूपता के लिए उपर्युक्त मार्ग निकाले, उससे पूर्व सावत्सरिक पर्व की तिथि-भिन्नता और उसके कारणो पर विचार कर लेना भी सामयिक ही होगा।

सावत्सरिक पर्व कब मनाया जाए, इस विषय मे कही कोई स्पष्ट आगमिक विधान उपलब्ध नही होता। श्रमण भगवान् महावीर के विषय मे उल्लेख करते हुए समवायाग मे केवल इतना विवरण दिया गया है कि उन्होने वर्षाकाल के ५० दिन व्यतीत होने और ७० दिन अवशिष्ट रहने पर पर्युपण (सवत्सरी) पर्व किया।[1] कल्पसूत्र मे भी ऐसा ही उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त निशीथ मे असमय पर्युषण करने वाले तथा यथासमय पर्युषग न करने वाले श्रमण के लिए चातुर्मासिक दण्ड का विधान किया गया है।

तिथि गणना का आधार

जैनो मे जब तक आगमानुमोदित पद्धति के अनुसार चातुर्मास और तिथि-गणना का क्रम चालू रहा, तब तक पर्युषण की आराधना यथासमय और एकरूपता से चालू रही प्रतीत होती है। परन्तु जब से तिथि-गणना के लिए लौकिक पचाग का आश्रय लिया जाने लगा, तब से व्यवस्था गडबडा गयी और उसमे मतभेद प्रारम्भ हो गये। लौकिक पचाग के अनुसार श्रावण और भाद्रपद आदि महीने भी अधिमास के रूप मे आते है, जबकि जैन क्रम से वर्षा-काल का कोई भी मास अधिमास नही होता। वर्षा-काल मे अधिमास होने पर चातुर्मास पाच महीने का होने लगा। उस स्थिति मे पर्युपण-सवत्सरी के लिए पूर्व के पचास दिन और बाद के सत्तर दिनो का मेल बिठाना असम्भव हो गया। फलस्वरूप इस पर्व के विषय मे अनेक परम्पराए हो गई। किसी ने पूर्व के ५० दिनो को महत्त्व दिया, तो किसी ने बाद के ७० दिनो

१ समणे भगव महावीरे वासाण सवीसइ राइए मासे वइक्कते सत्तरिएहि राइदिएहि सेसेहि वासावास पज्जोसवेति। —समवायाग ७०

२ जे भिक्खू अपज्जो सवणाए ण पज्जोसवेइ, पज्जोसवंत वा साइज्जइ।
जे भिक्खू पज्जोसनणाए ण पज्जोसवेइ, ण पज्जोसवत वा साइज्जइ॥
—निशीथ, १०-४८, ४९

को और किसी ने अधिमास को अगणनीय मानकर पर्व मनाने की परम्परा चालू की। तिथियो की घटा-बढी मे मतभेद होने के कारण इसके साथ एक दुर्भाग्य और जुड गया कि कभी यह पर्व चतुर्थी को मनाया जाने लगा, तो कभी यह पर्व पचमी को। किसी परम्परा द्वारा इसके लिए केवल चतुर्थी ही नियत कर दी गई तो किसी के द्वारा केवल पचमी ही। किसी ने सूर्योदय के समय की तिथि को ही मान्यता दी तो किसी ने घटिका प्राप्त तिथि को।

यद्यपि अधिमास या मलमास जैनागमो मे भी स्वीकृत हुआ है, परन्तु वहा उसके लिए पौष और आषाढ—ये दो महीने ही निश्चित है, अन्य कोई महीना अधिमास नही होता है। चन्द्र-प्रज्ञप्ति सूत्र मे ५ वर्ष के एक युग मे ६२ मास होने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि वहा ५ वर्ष मे दो अधिमास गिने गए है। अन्यथा वर्ष के १२ मास होने के हिसाब से तो केवल ६० मास ही होने चाहिए। इस क्रम मे प्रत्येक ढाई वर्ष के पश्चात् अर्थात् ३० माह के पश्चात् एक मास अधिक होता है। जैन गणना मे श्रावण प्रतिपदा से नव वर्ष आरम्भ होता है, अत ५ वर्ष के युग मे ३१वा मास पौष और ६२वा मास आषाढ अधिमास होता है। जब आषाढ दो होते है, तब द्वितीय आषाढ की पूर्णिमा को चातुर्मासिक पाक्षिक दिन होता है और तब से चार महीने तक अर्थात् कार्तिक पूर्णिमा तक वर्षाकाल माना जाता है।

वर्षा-काल मे अधिमास की परम्परा जैन क्रम मे तो मान्य ठहरती नही, परन्तु वह अन्यत्र भी सम्भवत पीछे मे ही आई। आचार्य चाणक्य ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' मे अधिमास का विचार किया है। उससे तो यही सिद्ध होता है कि उस समय भी ग्रीष्म और हेमन्त ऋतु मे मलमास किया जाता था। वे लिखते है—

> **दिवसस्य हरत्येक षष्टि भागमृतो सत**
> **करोत्येकं महच्छेद तथैवैक च चन्द्रमा.**
> **एवमर्ध तृतीयानामब्दानामधिमासकम्**
> **ग्रीष्मे जनयत पूर्व पंचाब्दान्ते च पश्चिमम्।**

सूर्य प्रतिदिन दिन के ६०वे हिस्से अर्थात् एक घटिका का छेद कर लेता है। इस तरह एक ऋतु मे आठ घटिका यानी एक दिन अधिक बना देता है। इस प्रकार एक साल मे ६ दिन, दो साल मे १२ दिन और ढाई साल मे १५ दिन अधिक बना देता है। इसी तरह चन्द्रमा भी प्रत्येक ऋतु मे एक-एक दिन कम करता चला जाता है और ढाई साल मे १५ दिन की कमी हो जाती है। यानी ढाई साल मे सौर और चान्द्र गणना के अनुसार दोनो मे एक महीने बाद ग्रीष्म ऋतु मे प्रथम मलमास या अधिमास और पाच साल के बाद हेमन्त ऋतु मे एक अधिक मास को सूर्य और चन्द्रमा उत्पन्न करते है। ढाई साल मे उनकी गणना मे जो एक महीने का अंतर पडता है, उसे पहले ग्रीष्म और पीछे हेमन्त ऋतु मे क्रमश एक महीना और अधिक

बढाकर पूरा कर दिया जाता है।'[1] आचार्य चाणक्य के उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे ज्येष्ठ-आषाढ और मार्गशीर्ष-पौष को ही मलमास के रूप मे स्वीकृत करते है। उनका यह कथन जैन मान्यता का ही समर्थन करता है।

इस समय प्राय सभी जैन परम्पराए लौकिक पचाग के अनुसार ही अधिमास तथा तिथियो का वृद्धि-क्षय मान्य करती हैं, अत जब-जब श्रावण तथा भाद्रपद अधिमास होता है, तब-तब सवत्सरी महापर्व को मनाने मे विभिन्न विकल्प हो जाते है। प्रत्येक विकल्प के पीछे जो क्रम और इतिहास रहा है, वह यदि सबके सम्मुख आए, तो एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने तथा उसमे समन्वय का मार्ग खोजने मे सहायता मिल सकती है। तेरापथ मे जिस क्रम मे सवत्सरी पर्व का तिथि-निर्णय किया जाता हैं, वह जयाचार्य के शब्दो मे इस प्रकार है—

मास मे वीस दिवस बैसती चोमासी थी,
सित्तर दिन बलि पाछल राखी।
समवायाग रै सित्तर समवाये,
सवत्सरी करणी जिन भाखी ॥३६॥
कवे चौमास मे तीन महीना गुणतीसा,
एक महीनो तीसो होय।
एक सो सतरे दिन रो चौमासो,
किणहिक वर्ष विजे आवै सोय ॥५०॥
जो गुण पच्चास दिन स्यू करै सवत्सरी,
तो पाछला दिन अडसठ रहै ताय।
जो पाछला दिन गुणतर राखै तो,
अडतालीस दिन थी सवत्सरी थाय ॥५१॥
इम अडतालीस दिन थी सवत्सरी न करणी,
दिन अडसठ पिण नहि राखणा लार।
गुणपच्चास अने गुणतर दिन जोइए,
तिण रो किण रीत किजे सुविचार ॥५२॥
तो आषाढ सुद चौदस री करणी चोमासी,
पूनम रा दिन थी अवधार।
गुण-पच्चास दिन थी सवत्सरी करणी,
इम दिवस गुणतर राखणा लार ॥५३॥

---

१ अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, अध्याय २०, श्लोक-७३, ७४
उदयवीर शास्त्रीकृत अनुवाद, पृष्ठ-२४५

चौमासा माहे जे महीनो वधै तो,
जै वधै ते मास तणा दिन धार।
गुणपच्चास गुणतर माहे न गिणवा,
ते लुड महीनो न गिणवो लिगार ॥५४॥
दोय श्रावण हुवै तो दूजा श्रावण मे,
सवत्सरी करणी नही सोय।
दोय भाद्रवा हुवै तो दूजा भाद्रवा मे,
संवत्सरी करणी नही कोय ॥५५॥

इसका फलितार्थ सक्षेप मे निम्नोक्त प्रकार से कहा जा सकता है—

१ सवत्सरी पर्व से पूर्व ४९ या ५० दिन तथा बाद मे ६९ या ७० दिन रहने चाहिए।

२ किसी वर्ष चातुर्मास काल के तीन महीने २९ दिन के तथा एक महीना ३० दिन का होने से ११७ दिन का ही काल रहता है। उसमे ४९ दिन मे सवत्सरी की जाए, तो पीछे ६८ दिन शेष रहते हैं और यदि पीछे ६९ दिन रखे जाए, तो पहले ४८ दिन ही रह पाते है। उस स्थिति मे आषाढ शुक्ला १४ को चातुर्मासिक पाक्षिक दिन करना चाहिए और आषाढ पूर्णिमा का दिन मिलाकर ४९ दिन मे सवत्सरी की जानी चाहिए। इस क्रम से पीछे भी ६९ दिन रह जाते हैं।

३ वर्षाकाल मे अधिकमास हो, उसे गिना न जाए। दो श्रावण हो, तो दूसरे श्रावण के दिनो की गणना पूर्व के ४९ या ५० दिनो मे न की जाए और भाद्रपद मे सवत्सरी की जाए। दूसरे भाद्रपद के दिनो को अगले ६९ या ७० दिनो की गणना मे न लिया जाए।

एकता और अनुशासन का प्रतीक : तेरापंथ

लौह-सकल्प

एकता और अनुशासन का स्थान जीवन के हर क्षेत्र मे सबसे ऊचा गिना जाता है। इसके बिना न कोई राष्ट्र उन्नति कर सकता है और न समाज। यहा तक कि धार्मिक सघो के लिए भी ये प्राण तत्त्व गिने जाते है। इनकी अवहेलना संगठन के जीवन की अवहेलना सिद्ध होती है।' कुछ शताब्दियो पूर्व जैन धर्म ऐसे ही एक सक्राति-काल से गुजर रहा था। तब संघ छोटे-छोटे टुकडो मे विभक्त था। कोई एक ऐसा समर्थ आचार्य नही था, जिसका अनुशासन सर्वमान्य हो सके। ऐसी स्थिति मे आचार-विचार की न्यूनता का पनपना भी कोई आश्चर्य की बात नही थी। उन विपम परिस्थितियो ने अवश्य ही अनेक व्यक्तियो के मन को आलोडित किया होगा, परन्तु उनसे लोहा लेने का लौह-सकल्प करने वाले अकेले स्वामी भीखणजी ही थे।

चिनगारी की खोज

स्वामीजी एक निर्भीक व्यक्ति थे, सत्य को पाने के लिए उन्होने अनेक मतो और पथो का समीपता से निरीक्षण-परीक्षण एव अध्ययन किया था। आखिर वे आचार्य रघुनाथजी के पास दीक्षित हुए। आठ वर्षो तक लगातार आगमो का गभीर अध्ययन करने के पश्चात् उन्होने पाया कि शास्त्रो मे जिस आचार-विचार का उल्लेख है, तदनुरूप आचरण यहा नही है। तत्कालीन साधुओ के पारस्परिक विद्वेष-पूर्ण व्यवहारो को देखकर भी उनके मन मे बडी वितृष्णा हुई, उन्हें लगा कि एकता और अनुशासन के सस्कार विलुप्त-प्राय होते जा रहे हैं।

आचार्य रघुनाथजी के सम्मुख सारी स्थिति रखते हुए स्वामीजी ने कहा—'आप गुरु है, सारी स्थितियो को सुधारने के अधिकारी है, अत. पूर्ण सजगता और कठोरता से कदम उठाकर अभी से इनका प्रतिकार करना चाहिए, अन्यथा ये ही सस्कार बद्धमूल हो जाएगे।' लगभग दो वर्षो तक गुरु-शिष्य मे यह विचार-मथन

चलता रहा, गुरु ने तब ऊबते हुए कहा—'कलिकाल मे जितना आचार पाला जा रहा है, वही कौन-सा कम है ? इससे अधिक की आशा तुम्हे छोड देनी चाहिए।' गुरु का रुख जान लेने के पश्चात् स्वामीजी ने अन्य आचार्यो से भी सपर्क किया, परंतु सर्वत्र राख के ढेर ही मिले, चिनगारी का कही अता-पता तक नही था। उस स्थिति मे स्वामीजी ने अपने ही बल-बूते पर कार्य करने का निश्चय किया।

तेरापथ

स्वामीजी ने वि० सवत् १८१७ की गुरु-पूर्णिमा (आषाढ पूर्णिमा) के दिन नये सघ की स्थापना की। प्रारभ मे उनके सहयोगी १३ साधु और १३ ही श्रावक थे, अत लोगो ने उन्हे तेरापथी कहना प्रारभ कर दिया। स्वामीजी को जब यह पता चला तो उन्होने उस नाम को स्वीकार करते हुए कहा—'हे प्रभो ! यह तेरापथ।' नाम की सख्या-परकता को भी कायम रखते हुए उन्होने कहा—'पाच महाव्रत, पाच समिति और तीन गुप्ति—इन तेरह नियमो की यथार्थ पूर्णता को जो अपना लक्ष्य बनाकर चलता है, वह तेरापथी है।' इस प्रकार दूसरो के द्वारा दिये गये नाम को स्वामीजी ने अपनी अर्थवत्ता से उपादेय तो बनाया ही, अतिशायी भी बना दिया।

सविधान

स्वामी भीखणजी ने सगठन को स्थायित्व प्रदान करने के लिए अनेक नियम बनाये। उन्होने उनको मर्यादा नाम प्रदान किया। आज की भाषा मे हम उसे सविधान कह सकते है। मर्यादाए स्वामीजी ने बनायी, परतु प्रत्येक साधु-साध्वी को समझाकर उनकी स्वीकृति लेने के पश्चात् उन्हे लागू किया। उन्हे एकतत्र और लोकतत्र का अद्भुत मिश्रण कहा जा सकता है। स्वामीजी के सम्मुख उस समय मुख्यत चार बिंदु थे—सम्यक् आचार और सम्यक् विचारो का सरक्षण एव प्रवर्धन तथा एकता और अनुशासन का सस्थापन। चारो ही बातो मे स्वामीजी को परिपूर्ण सफलता मिली। तेरापथ आज एक आचार और एक विचार के लिए प्रसिद्ध है। उसी प्रकार एकता और अनुशासन का तो वह एक प्रतीक बन गया है। इसका यह तात्पर्य नही है कि तेरापथ मे कभी कोई मतभेद होता ही नही। वह होता है, परन्तु स्वामीजी ने मतभेदो को समाहित करने के लिए तीन उपाय बतलाये है, उनसे वे बहुधा समाप्त हो जाते है। उनमे प्रथम उपाय है कि आगमज्ञ विद्वानो के साथ बैठकर तद्विषयक चर्चा करो। अपनी बात समझाओ और उनकी समझो। उतने से यदि समाधान प्राप्त न हो पाये तो दूसरा उपाय है कि आचार्य जो निर्णय दे, उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लो। उसके लिए भी मन साक्षी न दे तो तीसरा और अन्तिम उपाय है कि अपने ज्ञान की अपूर्णता को ध्यान मे रखकर उस [illegible] को सर्वज्ञ के चरणो मे समर्पित कर दो। अर्थात् भविष्य पर ही समाहित हो

जाने की आशा मे उसे गौण कर दो, क्योकि तुम सर्वज्ञ नही हो, अत तुम्हे जो लग रहा है, वही सत्य है, औरो का अनुभव असत्य हे, ऐसा आग्रह करने का कोई कारण नही है। जो इन तीनो मे से किसी भी उपाय को स्वीकार नहीं कर सकता। उसके लिए स्वामीजी ने कहा है कि उसे सघ से पृथक् हो जाना चाहिए, आत्म-वचनापूर्वक सघ मे रहने का कोई लाभ नही।

वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य मे

प्रतिवर्ष आषाढी पूर्णिमा के दिन तेरापथ अपना स्थापना दिवस मनाता है। वर्त्तमान मे उसके अनुशास्ता है—आचार्यश्री तुलसी। वे इस सघ के नवम आचार्य है। इस समय सात-सौ से अधिक साधु-साध्विया उनके निर्देश से समग्र भारत मे विहार कर रही है। जन-जीवन मे धार्मिक सस्कार भरना, दुर्व्यसन-मुक्ति, अहिसक आचार-व्यवहार, आमिष भोजन का परित्याग, असाप्रदायिक भाव से जन-जन को अणुव्रत आदोलन के माध्यम से नैतिकता और सदाचार की प्रेरणा देना उन सबका लक्ष्य होता है।

आचार्यश्री तुलसी ने अपनी पदयात्राओ से प्राय समग्र भारत का भ्रमण किया है। लाखो व्यक्तियो को उन्होने व्यसन-मुक्त किया है। अणुव्रत आदोलन के रूप मे जन-जन तक उनकी आवाज पहुची है। राष्ट्रपति-भवन से लेकर गरीब की झोपडी तक उनका निर्बाध प्रवेश है।

तेरापथ ने आज तक व्यसन-मुक्ति और धार्मिक सस्कार-दान के रूप मे जन-सेवा की है, भविष्य मे भी वह और तीव्रगति से की जाती रहेगी, ऐसी उससे आकाक्षा की जा सकती है।

युग-परिप्रेक्ष्य में मर्यादा-महोत्सव

वर्तमान युग को समस्या-सकुल युग कहा जा सकता है। जिधर भी दृष्टिक्षेप किया जाता है उधर अनेकानेक समस्याए सुरसा की तरह मुह वाये दृष्टिगत होती है। सामान्य जन-जीवन से लेकर अध्यात्म-जगत् तक मे समस्याओ की कडिया आगे से आगे जुडकर ऐसी सुदृढ श्रृखला वन गयी है, जिसके वन्धन से वचकर रह पाना प्राय असम्भव-सा वन गया है। यही कारण है कि आज छात्रो से लेकर नेताओ तक मे अनुशासनहीनता की एक अवर्जनीय होड लगी हुई है। व्यक्तियो, सस्थाओ और जातियो आदि मे अपनी-अपनी पृथक् पहचान की अधी आतुरता इतने भयकर अविवेक तक पहुच चुकी है कि उससे राष्ट्रहित के भी खण्डित होने का भय होने लगा है। हर समस्या को अपनी ही धारणा के अनुकूल हल करने की ललक ने हिंसा और आतक का ऐसा ताडव नृत्य प्रारम्भ कर दिया है कि हर चिन्तक किकर्त्तव्य-विमूढ दिखाई देने लगा है। भ्रातृत्व, मैत्री और पारस्परिकता की सहस्रो-सहस्रो वर्षों के आचरण से सुपुष्ट की गयी परम्परा की धज्जिया उडा देने के लिए इस समय हर किसी के हाथ मानो अकुला रहे है। इन सव स्थितियो को देखकर यही प्रतीत होता है कि आज के प्राय सभी सक्रिय हाथ अपनी-अपनी पहुच तक मर्यादा की पाचाली के चीरहरण की प्रक्रिया मे जुडे हुए है।

युग के इस परिप्रेक्ष्य मे जव कही मर्यादा के उपलक्ष्य मे कोई महोत्सव मनाया जाता है तो वह किसी आश्चर्य से कम नही होता। लगता है किसी कृष्ण का अदृश्य हाथ आज भी मर्यादा की उस पाचाली की लाज वचाने को कृत-प्रतिज्ञ है। इससे एक प्रवल आशा एव विश्वास के जागरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो सकती है।

तेरापथ मे मर्यादा-महोत्सव प्रतिवर्ष मनाया जाता है। अन्य महोत्सवो की तरह यह कोई आमोद-प्रमोद, नृत्य-सगीत, भोज या भाषणवाजी का उत्सव नहीं है। यह तो विशुद्ध कर्तव्य-वोध का प्रेरक उत्सव है। इसमे कर्तव्य-बुद्धि के आधार पर पवित्रता, एकता और नियमानुवर्तिता की आत्म-स्वीकृत प्रतिवद्धता को यथावत् सुरक्षित रखने के सकल्प को सामूहिक रूप मे दुहराया जाता है। यह महोत्सव तेरापथ के सविधान-पूर्ति-दिवस के उपलक्ष्य मे प्रतिवर्ष पूर्व घोषित स्थान

पर मनाया जाता है। इस अवसर पर रुग्णता, वृद्धता या आज्ञाप्त आदि कुछ अपवादो के अतिरिक्त शेष सभी साधु-साध्विया पदयात्रा करते हुए आचार्यश्री के सान्निध्य मे उपस्थित होते है। साधारणतया तीन सौ, चार सौ से छह सौ तक साधु-साध्विया तथा पचीस-तीस हजार से पचास हजार तक श्रावक-श्राविका-गण उपस्थित होकर आचार्यश्री के मार्ग-दर्शन मे कृत कार्यो के प्रति चितन-मथन तथा करणीय कार्यो का निर्धारण करते है।

तेरापथ जैन धर्म की एक शाखा है। इसका उद्भव वि० स० १८१७ आषाढ पूर्णिमा को हुआ। इसके आद्य प्रणेता आचार्यश्री भिक्षु ने नवोद्गत सघ के बद्ध-मूल हो जाने के पश्चात् सुव्यवस्थित प्रगति और सुस्थिर अस्तित्व के लिए एक सविधान बनाया। वह वि० स० १८५९ माघ शुक्ला सप्तमी को सम्पन्न हुआ। उसी दिन को आधार मानकर तेरापथ के चतुर्थ आचार्यश्री जयाचार्य ने स० १९२१ मे उक्त सविधान के उपलक्ष्य मे मर्यादा-महोत्सव मनाने की घोषणा की। तब से यह बराबर प्रति-वर्ष मनाया जा रहा है।

यह महोत्सव आध्यात्मिक और सास्कृतिक भावनाओ का एक मूर्त्त प्रतीक बन गया है। समान आचार, समान विचार और समान चितन की भूमिका का निर्माण करने मे भी इसका महनीय योगदान रहा है। सघ के योगक्षेम मे आधारभूत उन मर्यादाओ मे से कुछ का यहा उल्लेख करना प्रसगोपात्त ही होगा।

१ तेरापथ मे एक ही आचार्य होगा और सभी साधु-साध्विया उसी के निर्देश मे चलेंगे।

२ सबके लिए विहार या चातुर्मास का निर्धारण आचार्य द्वारा ही होगा।

३ सभी दीक्षित एकमात्र आचार्य के शिष्य होगे, किसी को अपना व्यक्तिगत शिष्य बनाने का अधिकार नही होगा।

४ पूरे परीक्षण के पश्चात् योग्य व्यक्ति को ही अभिभावको की लिखित आज्ञा प्राप्त होने पर दीक्षित किया जा सकेगा।

५ उत्तराधिकारी की नियुक्ति करने का अधिकार एकमात्र आचार्य को ही होगा।

६ चर्या मे उपयोगी प्रत्येक वस्तु समग्र सघ की होगी। किसी का उन पर व्यक्तिगत स्वामित्व नही होगा।

७ सघ का प्रत्येक सदस्य सविभाग का अधिकारी होगा।

८ पूर्व मर्यादाओ मे परिवर्तन, परिवर्धन या सशोधन तथा नयी मर्यादाओ का निर्माण आचार्य द्वारा नियुक्त समिति मे सुचिंतित होने के पश्चात् आचार्य की स्वीकृति होने पर ही मान्य होगा।

९ सघ की साधना-पद्धति मे पूर्ण विश्वासी की ही सदस्यता मान्य होगी। अन्यथा उसे अनिवार्यत सदस्यतामुक्त होना होगा।

उपर्युक्त मर्यादाओ ने श्रमण-सघ को सामूहिक जीवन की दिशाए तो प्रदान की ही, सवलता और प्रगति के द्वार भी खोले। वर्तमान मे इस सघ के सुचारु संचालन का दायित्व नवम अधिशास्ता आचार्यश्री तुलसी के कधो पर है। वे स्वय मर्यादाओ का परिपूर्ण पालन करते है, अत दूसरो को उस विषय मे मार्ग-दर्शन देने के अधिकारी भी है। मर्यादा-महोत्सव के इस पुनीत पर्व पर वे अपने अनुयायियो की मर्यादानुवर्तिता का निरीक्षण-परीक्षण तथा मार्गदर्शन तो करते ही है, साथ ही समग्र देश की जनता को भी मर्यादा के प्रति सजग और निष्ठाशील वनाने का प्रयास करते रहना अपना कर्त्तव्य मानते हैं।

भारतीय जनता स्वभावत मर्यादापालक रही है, परन्तु वर्तमान की कलुषित राजनीति, दलीय स्वार्थो के अधे व्यामोह तथा भ्रान्त मत्रणाओ एव धारणाओ ने उसे पथ से विचलित कर दिया है। ऐसी विपन्नावस्था मे सतजनो का ही कार्य है कि उसे मार्गस्थ करने का भार वे स्वय अपने कधो पर लें। इस कार्य से जहा भारतीय जनता का कल्याण होगा, वहा मर्यादा-महोत्सव जैसे आध्यात्मिक एव सास्कृतिक पर्व की सार्थकता को भी चार चाद लग जाएगे।

मर्यादा-महोत्सव : सांस्कृतिक पर्व

मर्यादा-महोत्सव तेरापथ का एक सास्कृतिक पर्व है। हर धर्म तथा समाज मे विभिन्न आधारो पर विभिन्न पर्व मनाये जाते है, परन्तु 'सविधान' के आधार पर कही कोई पर्व मनाया जाता हो, ऐसा सुनने तथा देखने मे नही आया। जैन धर्म की शाखा 'तेरापथ' ही एक ऐसा सगठन है, जो अपने सविधान की पूर्ति के उपलक्ष्य मे शताब्दी से भी अधिक समय से ऐसा पर्व मनाता आया है। इस धर्म-सघ के सस्थापक आचार्य भिक्षु ने एकता और पवित्रता बनाये रखने के लिए जो नियम बनाये, उनका उन्होने 'मर्यादा' नामकरण किया। युग की भाषा मे आज हम उसे 'सविधान' कह सकते है। इस सविधान की सम्पन्नता माघ शुक्ला सप्तमी को हुई थी, अत प्रति वर्ष उसी दिन उसकी पुण्य-स्मृति मे मर्यादा-महोत्सव नाम से यह पर्व मनाया जाता है। राष्ट्र के वर्तमान वातावरण के परिप्रेक्ष्य मे मर्यादा-महोत्सव जैसे पर्व की बात निश्चय ही एक अजीब और असामयिक प्रवृत्ति लग सकती है, परन्तु साथ ही यह उतनी ही आशाप्रद भी कही जा सकती है। जहा चारो ओर से मर्यादा भग की ही घटनाए सुनने को मिलती हो, राजनेताओ से लेकर विद्यार्थियो तक सभी तबको के लोग जहा सघटन के स्थान पर विघटन मे ही अपनी शक्ति लगा रहे हो और जहा धन-जन की सुरक्षा आशकाओ के घेरे मे पडी हो, वहा मर्यादा या कानून की याद दिलाने वाला यह पर्व मार्ग-दर्शन का कार्य कर सकता है।

यह पर्व भारतवर्ष की आध्यात्मिक और सास्कृतिक भावनाओ का एक मूर्त प्रतीक है। समान आचार, समान विचार और समान चिन्तन की भूमिका का निर्माण करने मे इस पर्व ने बहुत बडा कार्य किया है। श्रमण-सघ मे जिस समय अनेक शिथिलताओ ने घर कर लिया था, उस समय उनके निराकरण और सम्यक् आचार के सस्थापन तथा सरक्षण के लिए इस पर्व की आधारभूत मर्यादाओ का निर्माण हुआ था।

सगठन छोटा हो चाहे बडा, राजनीतिक हो चाहे धार्मिक, उसे सुव्यवस्थित चलाने के लिए अनुशासन की और अनुशासन के लिए नियमो की आवश्यकता

होती ही है। आचार्य भिक्षु ने इस धार्मिक सगठन के लिए जो नियम बनाये, उनको उन्होंने 'मर्यादा' शब्द से अभिहित किया। नियम या शासन शब्द की अपेक्षा 'मर्यादा' शब्द अधिक भावपूर्ण एव सगत प्रतीत होता है। नियम शब्द से नियता एव नियत्रित के तथा शासन शब्द से शासक और शासित के भावो की ओर ध्यान जाता है, साथ ही एक बाध्यता की-सी स्थिति अनुभूत होने लगती है, परन्तु 'मर्यादा' शब्द से बाध्यता रहित केवल कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की सीमा का बोध होता है। आचार्य भिक्षु ने जो मर्यादाए बनायी, उन्हे तत्कालीन साधु-समुदाय से पूछकर, उनकी स्वीकृति प्राप्त करने के पश्चात् ही संघ मे लागू किया। वे लिखते है—"सर्व साधु-साध्विया नै पूछीनै, वा कना सू कहिवाय नै मरजादा बाधी छै" जिणरा परिणाम चोखा हुवै ते आरै हुज्यो, कोई सरमासरमी रो काम छै नही, मूढै ओर नै मन मे और इमतो साधु नै करणो छै नही।"

आचार्य भिक्षु व्यक्तिगत स्वतत्रता को बहुत मूल्यवान् समझते थे, अत उसमे किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न करने मे उनकी कोई रुचि नही थी, परन्तु निरकुश छूट देकर सघ मे प्रमाद को बढावा देना भी उन्हे अभीष्ट नही था। दोनो का सतुलन बिठाने के लिए ही उन्होने ऐसी मर्यादाओ का निर्माण किया, जिनकी आवश्यकता सघ के साधु-साध्वियो को भी प्रतीत हुई। इसीलिए तेरापथ की मर्यादाए शासक द्वारा थोपी गयी न होकर स्वय शिष्यो द्वारा सयम की भूमिका पर आत्म-स्वीकृति मे समुद्भूत है। आत्म-सयम की स्थिति मे मर्यादाए परतत्रता की बेडिया न होकर परम स्वतत्रता की जननी बन जाती है। वे साधक के विवेक को जागृत रखती है और भटकन मे बचाती है। आत्मस्वीकृति ही मर्यादाओ की पवित्रता की सीमा-रेखा है। उसके अभाव मे केवल बाह्य दबाव या भय उसे अपवित्र बना डालता है।

सघ मे दीक्षित व्यक्ति विभिन्न क्षेत्रो मे आये हुए होते है। उनका खान-पान, भाषा-भूषा एव सस्कार आदि काफी भिन्नता लिये होते है, फिर भी यहा आकर वे समान मर्यादाओ का आधार पाकर बधु बन जाते है और साध्य-बिन्दु पर एकात्मकता का अनुभव करते है। यही कारण है कि बडी सख्या मे एकत्रित होकर भी वे शान्त सहवास मे समाधिपूर्वक वैसे ही रह लेते है जैसे एक शरीर मे उसके सहस्रो अवयव।

सघीय जीवन मे व्यक्ति को अपनी निस्सीम स्वतत्रता के कुछ अशो का बलिदान करना होता है। अकेला व्यक्ति यथारुचि रह सकता है परन्तु समाज मे रहने वाले को अपनी रुचि के कोणो को इस प्रकार से घिस लेना पडता है कि वे [illegible] किसी अन्य व्यक्ति के रुचि-कोणो से न टकरा पाए। प्रत्येक सगठन सामाजिकता का आधार पाकर खडा होता एव पनपता है। धार्मिक सगठन भी इस नियम के अपवाद नही है।

तेरापथ एक धार्मिक सगठन है। आत्म नैर्मल्य की साधना मे पारस्परिक सहयोग करना उसका लक्ष्य है। सगठन है तो उसे बनाये रखने के लिए मर्यादाए भी है। मर्यादा अर्थात् अनुशासन। जो अनुशासित नही होता, वह लक्ष्य के प्रति—असदिग्ध एव निर्णीत गति नही कर पाता। अनुशासित होना सगठन के लिए जितना आवश्यक है उससे भी कही अधिक वह अपनी प्रगति के लिए आवश्यक होता है। जैनाचार्यो ने अनुशासनहीन समाज को अस्थि-सघात मात्र माना है, उसमे कोई प्राणवत्ता और क्रियाशीलता नही होती। ऐसे सगठन शीघ्र ही अपना अस्तित्व खो देते है।

अनुशासन जब हृदय की पवित्रता से पाला जाता है तब वह व्यक्ति के चरित्र विकास का द्योतक होता है और जब दड की नीति से पाला जाता है तब विवशता का। हृदय की पवित्रता व्यक्ति को आचरण की ओर प्रवृत्त करती है। पवित्रता के अभाव मे दड की नीति ही कार्य करवाती है। परन्तु वहा कार्य किया नहीं जाता, करवाया जाता है। वह सगठन की अस्वस्थता का ही द्योतक है।

तेरापथ एक सुमर्यादित एव स्वस्थ सगठन है। उसके आद्यप्रणेता आचार्य भिक्षु ने जो मर्यादाए निर्मित की वे सघ को सुव्यवस्था प्रदान करने वाली तो थी ही, साथ ही व्यक्ति के स्वातंत्र्य का भी आदर करने वाली थी। ऐसी मर्यादाए जीवन को समृद्ध करने वाली होती है, कुठित नही। कुण्ठा तब उत्पन्न होती है, जब मर्यादा लादी जाती है। आचार्य भिक्षु ने ऐसा कभी नही किया। उन्होने जो भी मर्यादा पत्र लिखे, साधुगण की सम्मति प्राप्त करने के पश्चात् ही उन्हे अतिम रूप प्रदान किया।

तेरापथ धर्मसघ की तृतीय शताब्दी का यह चतुर्थ दशक चालू हुआ है। समय-गणना की दृष्टि से यह एक अर्वाचीन धर्मसघ है। जनमानस मे प्राचीनता के साथ जो गौरवानुभूति तथा लगाव होता है, वह अर्वाचीनता के साथ प्राय नही होता, परन्तु तेरापथ को इसका अपवाद कहा जा सकता है। उसने न केवल अपने अनुयायियो के मन मे ही, अपितु अन्य जनो के मन मे भी एक आदरास्पद स्थान बनाया है। प्रत्येक अनुयायी तेरापथ को अपना अभिन्न अंग मानकर चलता है। यह लगाव किसी के द्वारा ऊपर से थोपा हुआ नही, किन्तु स्वाभाविक होता है।

आचार्य भिक्षु बडे दूरदर्शी और सूझ-बूझ वाले थे। उन्होने अपने युग के अनेक धर्म-सघो को टूटते एव बिखरते देखा था। कोई भी महत्त्वाकाक्षी व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत महिमा बढाने के लिए नया सगठन बनाता और वह उसका सचालक बनकर गुरुपद पर आसीन हो जाता। आचार्य भिक्षु इस प्रकार की वैयक्तिक मानसिकता को धर्म-सघ के लिए अत्यन्त विनाशक मानते थे। इसे रोकने के लिए उन्होंने विभिन्न प्रकार की मर्यादाओ का निर्माण किया।

उन मर्यादाओ ने श्रमण-संघ को सामूहिक जीवन की दिशाए तो दी ही, उस ओर बढ़ने के लिए उपयुक्त वातावरण का भी निर्माण किया। जो मर्यादाए लगभग सवा दो सौ से अधिक वर्ष पूर्व दस-बारह व्यक्तियो के नवगठित सघ के लिए बनायी गयी थी, वे ही आज सात सौ सन्तजनो तथा लाखो अनुयायियो की अतुल शक्ति की संवाहक बनी हुई हैं।

अणुव्रत आन्दोलन : एक परिचय

प्रगति और प्रतिगति

महारथी कर्ण को जब सूत-पुत्र होने के कारण अवज्ञा का सामना करना पडा, तब उन्होने अपनी ओर से स्पष्टीकरण करते हुए कहा—'दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्त तु पौरुषम्'। अर्थात्—कौन से कुल मे मेरा जन्म हो, यह निर्णय करना मेरे वश की बात नही थी। यह तो दैवाधीन थी, परन्तु अब मुझे जो कुछ बनना है, उसके लिए सम्पूर्ण पौरुष के साथ जुट जाना मेरे वश की बात है। उसमे कही कमी रहती हो तो वह मेरी ही खामी कही जा सकती है। कर्ण की उपर्युक्त बात आज के हर मनुष्य का मार्ग-दर्शन करने वाली है। हमे जीवन प्राप्त हुआ है, यह प्रकृति की एक सहज प्रक्रिया है, परन्तु उस जीवन को उन्नत या अवनत बनाने मे हमारा पौरुष ही उत्तरदायी है। हमारा जीवन कैसा होना चाहिए, इसका निर्णय हमारे अतिरिक्त कोई दूसरा करने वाला नही है। हमारे लिए हम ही निर्णय और तदनुरूप पौरुष करने के अधिकारी है।

गति मनुष्य के स्वभाव मे रमी हुई है। वह कही भी हो, विपन्न या सम्पन्न किसी भी अवस्था मे हो, एक रूप मे स्थिर होकर बैठा नही रह सकता, कुछ-न-कुछ गति अवश्य करता है। वही गति यदि विवेक के प्रकाश मे की जाती है, प्रगति बन जाती है, अन्यथा प्रतिगति। प्रगति उसके विकास और उन्नति का बीज है, तो प्रतिगति ह्रास और अवनति का। पौरुष की सार्थकता उन्नति और विकास मे ही है, अवनति और ह्रास मे नही।

उत्थान और पतन तथा विकास और ह्रास भौतिक क्षेत्र मे भी होता है और आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी। भौतिक क्षेत्र के उत्थान और पतन का मापदण्ड आर्थिक विकास होता है और आध्यात्मिक क्षेत्र के उत्थान-पतन का मापदण्ड होता है, चारित्रिक विकास। प्रथम प्रकार का विकास मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए और द्वितीय प्रकार का विकास आत्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आवश्यक है। मनुष्य शरीर आत्मा का एक सम्मिलित रूप है। न वह

केवल शरीर ही है और न केवल आत्मा ही। भूख शरीर को भी लगती है और आत्मा को भी। साधारणतया न शरीर को भूखा रखा जा सकता है और न आत्मा को ही। आत्मा परितृप्त हो और शरीर भूखा हो तो क्वचित् मनुष्य निभा भी लेता है, परन्तु शरीर परितृप्त हो और आत्मा भूखी, तव तो किसी भी प्रकार से निभा पाना कठिन है। उस स्थिति मे मनुष्य का पतन अवश्यम्भावी हो जाता है। भारत की जनता आज कुछ ऐसी परिस्थितियो मे गुजर रही है कि वह अभी तक न अपने भूख का कोई समुचित समाधान खोज पायी है और न भूखी आत्मा का। अनेक पंचवर्षीय योजनाओ की पूर्ति के बावजूद अभी समस्या जहा की तहा है। उनमे शारीरिक आवश्यकताओ मात्र की भी पूर्ति नही की जा सकी है। आत्मिक पक्ष की तो वहा सर्वथा उपेक्षा ही की गई है।

आन्दोलन का उत्स

आचार्यश्री तुलसी ने आत्म-पक्ष के उस अपेक्षित क्षेत्र मे कार्य करने के लिए सन् १९४९ मे अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात किया। एक छोटी-सी घटना इसका कारण बनी। राजस्थान के एक छोटे कस्बे छापर मे आचार्यश्री तुलसी का चातुर्मासिक प्रवास था। एक दिन उनके उपपात मे अनौपचारिक विचार-चर्चा करते हुए किसी भाई ने कहा—'आज की परिस्थितियो मे नैतिकता का पालन कर पाना असम्भव है। आस्था के इस अध पतन को देखकर आचार्यश्री का भगवान्-प्रधान हृदय सिहर उठा। उन्हे लगा, जन-मानस की आस्था का महल डगमगाने लगा है। यदि समय पर इसे नही सम्हाला गया तो यह शीघ्र ही धराशायी हो जायेगा।

उसी दिन उन्होने अपने प्रात कालीन प्रवचन मे सहस्रो की सख्या मे उपस्थित जन-समूह को आह्वान करते हुए कहा—'धर्म केवल उपासना का ही तत्त्व नही है। उससे जीवन का हर व्यवहार प्रकाशित होना चाहिए। उपासना-गृह मे स्वय को धार्मिक अनुभव करने वाला व्यक्ति बाहर आकर यदि वचक बन जाता है, तो यह आत्म-वचना के साथ-साथ जनता के साथ भी धोखा है। ऐसे व्यक्तियो की बहुलता राष्ट्र के नैतिक स्तर को नीचा कर देती है और अनैतिकता की बाढ ला देती है। इस सर्वग्रासी बाढ को रोकने के लिए मैं आज आप लोगो मे से केवल पचीस व्यक्तियो की माग करता हू। क्या मैं आशा करू कि मार्गस्थ सभी खतरो का सामना करने को कृत-सकल्प होकर नैतिक मूल्यो की पुन. प्रतिष्ठा मे अपना सर्वस्व लगा देने वाले पचीस व्यक्ति इस परिषद मे से मुझे मिल जायेगे?'

आचार्यश्री तुलसी के इस आह्वान से वातावरण मे एक गम्भीरता छा गई। उपस्थित व्यक्ति अपने-अपने आत्म-बल को तोलने लगे। सहसा ही कुछ व्यक्ति खड़े हुए और उन्होंने अपने-अपने नाम प्रस्तुत किए। धीरे-धीरे पचीस की वह सख्या

पूरी हो गई। यह छोटी-सी घटना अणुव्रत-आन्दोलन की नीव का पहला पत्थर वनी।

लक्ष्य और साधन

इस छोटी-सी भूमिका से प्रारम्भ हुआ यह आन्दोलन क्रमश प्रगति करता रहा है। राष्ट्र के छोटे-वडे सभी व्यक्तियो का इसने अपनी ओर ध्यान आकृष्ट किया है। इस आन्दोलन का लक्ष्य है—

(क) मनुष्य को आत्म-सयम की ओर प्रेरित करना।

(ख) मैत्री, एकता और शान्ति की स्थापना करना।

(ग) शोषण-विहीन और स्वतत्र समाज की रचना करना।

अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधन भी शुद्ध ही होने चाहिए, ऐसा आचार्यश्री का विश्वास है, अत इस आन्दोलन को वे हृदय-परिवर्तन का आन्दोलन कहते हैं। वैचारिक क्रान्ति के द्वारा वे अप्रामाणिकता, सग्रहवृत्ति, शोपण और अन्य अनैतिक वृत्तियो के प्रति जन-मानस को विरक्त कर देना चाहते है। व्यक्ति-व्यक्ति से सम्पर्क कर उनमे व्रत का शुद्ध जीवन का सकल्प जगाना चाहते है। ये साधन लक्ष्य-प्राप्ति मे विलम्वकारी तो हो सकते है, परन्तु लक्ष्य से भटकने नही देते, विपरीत फल नही लाते।

असाम्प्रदायिक

आन्दोलन का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही असाम्प्रदायिक रहा है, अत केवल चरित्र-विकास की आवश्यकता को ध्यान मे रखते हुए—धर्म, जाति, राष्ट्रीयता आदि भेदो से मुक्त होकर यह सभी के लिए समान-भूमिका पर साधना का मार्ग प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि इसमे हिन्दू, सिख, मुसलमान, ईसाई और जैन आदि सभी धर्मो के लोग सम्मिलित है। मूलत इसके नियम सभी धर्मो के मान्य सिद्धान्तो का समन्वित रूप है।

व्यवहार धर्म

अणुव्रत-आन्दोलन मानता है कि सत्य और अहिसा केवल मान्यता के ही धर्म नही है, वे जीवन के हर क्षेत्र मे व्यवहार्य भी है। जव-जव ये व्यवहार्य कोटि से हटते है, तव-तव मानव के हर व्यवहार मे अनैतिकता छा जाती है, कथनी और करनी भिन्न हो जाती है, मनुष्य का तव अध पतन हो जाता है। वर्तमान मे जो आपाधापी मची हुई है, वह इसी का दुष्परिणाम है। अणुव्रत आन्दोलन चाहता है कि यह स्थिति विघटित हो और मनुष्य मे सात्त्विक भावो का जागरण हो। सुख-समृद्धि की आकाक्षा हर किसी को हो सकती है, परन्तु वह नैतिक साधनो से ही

अर्जित की जाये या अन्यथा भी, यही आज का मुख्य प्रश्न है। जो लोग हिंसा मे विश्वास करते है, वे लूट-खसोट से, मार-धाड से, दूसरो को आतंकित करते हैं। सुख-समृद्धि को बाटने के बजाय लूट लेना चाहते है, नव-सर्जन के स्थान पर विनाश करते है। वे अपने पौरुष का दुरुपयोग करते है। उनके उस पौरुष का सदुपयोग हो सकता है, यदि वे नव-निर्माण मे लगें। उत्थान और समृद्धि विनाश से नही, नव-सर्जन से उत्पन्न होती है। आदमी का पौरुष तोडने मे नही, जोडने मे लगना चाहिए। यही अणुव्रत आन्दोलन की भावना का मूल है।

अणुव्रत के सन्दर्भ में व्यक्ति और समाज

सुधार की प्रयत्न-शृंखला

अणुव्रत आत्म-सुधार की एक क्रमिक प्रयत्न-शृखला है। पत्थर जैसा होता है, वैसा ही सहस्रो वर्षों तक पड़ा रह सकता है। प्रकृति ही स्वय जो कुछ उसमे अन्तर कर दे तो चाहे कर दे, वह स्वय अपने लिए कुछ नही करता। मनुष्य वैसा जड नही है। वह उतना प्रकृति-परायण भी नही है। लम्बे समय तक किसी भी एक स्थिति मे पडे रहना उसे पसन्द नही है। वह अपने आपमे परिवर्तन चाहता है। अच्छा हो या बुरा, ऊंचाई की ओर हो या ढलाव की ओर, सुधार हो या बिगाड, ये सभी बातें बाद की हैं, पहली बात तो परिवर्तन की ही है। मनुष्य जब यह सोचना प्रारम्भ करता है कि उसमे कौन-सा परिवर्तन होना चाहिए और कौन-सा नही, तब वह विवेक-जागृति की अवस्था मे होता है। उस अवस्था में वह प्राय. अच्छाई, ऊचाई और सुधार का निर्णय करता है, बुराई, ढलाव और बिगाड का नही।

शास्त्रकारों ने विवेक को धर्म इसलिए कहा है कि वह उसे सत् की ओर प्रेरित करता है और असत् से बचने की दृष्टि देता है। विवेक जागता होता है, तब मनुष्य का भाग्य और कर्त्तव्य दोनो जागते होते है। उसके सो जाने पर वे भी सो जाते है। विवेक जागृत रहे, यह मनुष्य के लिए सदैव अपेक्षणीय है, क्योकि आत्म-सुधार का मूल यही है। इसी के आधार पर मनुष्य जहा है, उससे आगे बढ़ने को प्रयत्नशील होता है और जैसा है, उससे अधिक अच्छा बनने का प्रयास करता है। विवेक पूर्ण इसी सुधार-परम्परा को अणुव्रत कहा जाता है।

अणु और व्रत

'अणु' यह इसलिए है कि मनुष्य अपनी शक्ति को तोलकर उसे यथा-शक्ति ग्र करता है। अधिक शक्ति वाले उससे बडा व्रत भी ग्रहण कर सकते है। यह

व्रत या महाव्रत होता है। उसी की अपेक्षा से इसे अणु अर्थात् छोटा व्रत कहा जाता है।

'व्रत' यह इसलिए है कि इसमे विवेकपूर्ण सकल्प होता है। यह सकल्प आत्म सुधार मे जहा स्थायित्व प्रदान करता है, वहा परिस्थिति-प्रेरित झझाओ से जूझने की शक्ति भी देता है। असकल्पित निर्णय अधूरे और कच्चे होते हैं। परिस्थिति, आवश्यकता और प्रलोभन आदि से प्रेरित होकर मनुष्य बहुधा उन्हे सहज रूप मे ही बदल डालते है परन्तु जो सकल्पित निर्णय होते है, उन्हे प्राणो तक की बाजी लगाकर पूरा करने का प्रयास करते है। इसमे वैयक्तिक स्तर पर कही कुछ शिथिलता भी हो सकती है, परन्तु वह आपवादिक होती है। व्रत की भावना मे सर्वत्र यही उद्दिष्ट होता है कि उसे प्राण-पण से पाला जाये, फिर चाहे वह व्रत 'महा' हो या 'अणु', पूर्ण हो या यथाशक्ति।

व्यक्ति या समाज

आत्म-सुधार की बात ऊपर कही गई है। उसके एक अन्य पहलू पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। भारतीय परम्परा मे प्राय प्रत्येक बात को अध्यात्म या धर्म के प्रकाश मे देखा जाता है, इसलिए, वहा आत्म-सुधार पर विशेष बल दिया जाता है, जबकि अन्यत्र यह माना जाता है कि व्यक्ति का सुधार तब तक असम्भव है, जब तक कि समग्र समाज को ही सुधार के लिए विवश नही कर दिया जाता। सामाजिक परिस्थितियो के बिगडने पर आदमी बिगडता है और उनके सुधर जाने पर वह सुधर जाता है। आत्म-सुधार या व्यक्ति-सुधार की बात निरर्थक है। कुछ व्यक्ति यदि अपने आपको सुधारते भी है तो वे आखिर तक निभ नही पाते। ज्यो-त्यो निभते भी है तो परिणाम यह होता है कि मानसिक स्तर पर वे समाज से अत्यन्त दूर पड जाते हैं और समाज को सभी बुराइयो का मूल मानते हुए ही वे फिर जी पाते है।

उपर्युक्त सभी बातें वस्तुत अध्यात्म-परम्परा वाले के लिए ध्यान देने योग्य हैं। परन्तु साथ मे यह भी कह देना चाहिए कि समाज-सुधार के पक्षधरो के लिए भी व्यक्ति-सुधार या आत्म-सुधार की बात उतनी ही ध्यान देने योग्य है।

व्यक्तिहीन समाज का कही कोई अस्तित्व नही होता। समाज का विशाल भवन व्यक्ति की ईंटो से ही बनता है। कच्ची और टेढी-मेढी ईंटो से पक्के और सुन्दर भवन के निर्माण की आशा नही की जा सकती। समाज के अच्छे या बुरे होने का निर्णय उस समाज के व्यक्तियो के अच्छे या बुरे होने पर ही निर्भर होता है।

एक दूसरे के पूरक

मूल वात यह है कि व्यक्ति-सुधार और समाज-सुधार दोनो परस्पर अनुस्यूत है, जैसे कि वस्त्र मे ताना-वाना होता है। दोनो मे से न किसी एक की उपेक्षा की जा सकती है और न किसी को गौण ही कहा जा सकता है। उनमे से यदि किसी की मुख्यता या गौणता का प्रतिपादन किया जाता है तो वह अपेक्षा-दृष्टि से ही होता है, सर्वथा नही। जितना सत्य यह है कि व्यक्ति-सुधार के विना समाज-सुधार अस्तित्व मे नही आ सकता, उतना ही यह भी सत्य है कि समाज-सुधार के अभाव मे व्यक्ति सुधार का टिक पाना कष्ट-साध्य हो जाता है। व्यक्ति और समाज एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक होते है। उसी तरह उनके सुधारो मे भी कोई विरोध न होकर पूरकता ही होती है।

समन्वित रूप

समाज किसी भी आदर्श के सर्वोच्च शिखर तक नही पहुच पाता। वह पूरा प्रयास करने पर भी मध्यम कोटि तक ही पहुच सकता है, परन्तु व्यक्ति वहा तक पहुच सकता है। कहना तो यह चाहिए कि व्यक्ति अपनी साधना से जिस शिखर तक पहुचता है, वही फिर समाज के लिए आदर्श या सर्वोच्च शिखर वन जाता है। इसलिए कहा जा सकता है कि आत्म-सुधार समाज-सुधार के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है। उसी तरह इस आदर्श की ओर वढता हुआ समाज व्यक्ति के लिए और उच्च शिखरो तक चढने की भूमिका तैयार करता है।

अणुव्रत-आन्दोलन आत्म-सुधार और समाज-सुधार का समन्वित रूप है। अणुव्रत की नियमावली इसका उदाहरण है। उस नियमावली के अनुसार चलने वाला तो व्यक्ति ही होता है, परन्तु उससे सामाजिक वातावरण मे परिवर्तन आता है। यह सम्भव नही है कि फूल खिले और वातावरण सुगन्धित न हो पाये। फूल का खिलना यद्यपि व्यक्ति का खिलना ही है, परन्तु सुगन्धि का फैलना उसे सामूहिक या सामाजिक वना देता है।

अणुव्रत आन्दोलन और नारी-समाज

अणुव्रत आन्दोलन आत्म-सुधार का आन्दोलन है। इसमे व्यक्ति छोटे-छोटे सकल्पो के माध्यम से अपनी वृत्तियो को कसता है। व्यक्ति यदि समाज से निरपेक्ष अकेला रहता, तो उसे अपनी वृत्तियो को कसने की विशेष आवश्यकता नही होती। जो थोडी-बहुत आवश्यकता होती, वह भी अपने हितार्थ ही होती। उसका प्रभाव किसी अन्य पर नही पडता। परन्तु वह सर्वथा समाज-निरपेक्ष हो नही सकता। हर क्षेत्र मे उसे समाज से आदान-प्रदान करना होता है। इस प्रक्रिया मे वह केवल 'स्व' को ही आगे रखकर नही चल सकता, उसे 'पर' के साथ सतुलन बिठाना पडता है। सतुलन बिठाने की इसी प्रक्रिया को यहा वृत्तियो का कसना कहा गया है। यह प्रवृत्ति स्वत भी जागृत हो सकती है और दूसरो की प्रेरणा से भी। जब यह दृढ संकल्प का रूप धारण कर लेती है, तब व्रत बन जाती है।

भारतीय धर्म-शास्त्रो मे व्रत के दो रूप प्रस्तुत किये जाते रहे है। एक पूर्ण और दूसरा अपूर्ण। पूर्ण व्रतों को महाव्रत और अपूर्ण अर्थात् यथासाध्य व्रतो को अणुव्रत कहा गया है। अणुव्रत आन्दोलन का सम्बन्ध इन्ही यथासाध्य व्रतो से है। इन्ही व्रतो के आधार पर आचार्यश्री तुलसी ने मानव मात्र के चारित्रिक तथा नैतिक विकास के लिए प्रयास किया। आचार्यश्री राजस्थान मे जन्मे तथा रहे है, अत स्वभावत' ही उनका परिचय-क्षेत्र राजस्थान से प्रारम्भ हुआ। इस आन्दोलन का प्रथम प्रभाव भी राजस्थानियो पर ही हुआ। यह दूसरी बात है कि आचार्यश्री ने इस आन्दोलन के माध्यम से धीरे-धीरे अपना परिचय-क्षेत्र बढाया और आज वे समग्र भारत के अपने बन चुके है। उनके माध्यम से आन्दोलन का प्रभाव क्षेत्र भी अखिल भारतीय तो बना ही है, परन्तु भारत से बाहर भी उसकी आवाज पहुची है।

आन्दोलन का प्रारम्भ राजस्थान से हुआ है, अत वहा की जनता को कितना आन्दोलित किया जा सका है, इसे देखकर ही आन्दोलन की सफलता या असफलता का अनुमान लगाया जा सकता है। इस कसौटी पर कसने से आन्दोलन की जहा अनेक सफलताए नजर आयेंगी, वहा कुछ असफलताएं भी दिखाई देंगी। आन्दोलन

ने सहस्रो व्यक्तियो को शराब, तम्बाखू, द्यूत आदि दुर्व्यसनो से मुक्त किया है। व्यापार-क्षेत्र मे मिलावट, गलत माप-तौल आदि के विरुद्ध वातावरण बनाया है। इसमे भी सहस्रो व्यक्तियो ने स्वय को इन दोषो से मुक्त किया है। सामाजिक क्षेत्र मे भी अनेक सुधार हुए है। जन्म, विवाह और मृत्यु के समय की अनेक परम्पराओ मे परिवर्तन आया है। अस्पृश्य भावना की जकड काफी अशो मे शिथिल हुई है। भावना की गहराइयो तक छाई हुई पर्दा-प्रथा का भी उन्मूलन प्रारम्भ हो चुका है। कुछ कार्य वैयक्तिक स्तर पर और कुछ सामूहिक स्तर पर प्रगति कर रहे है। यह सब जहा आन्दोलन की सफलता कही जा सकती है, वहा यह असफलता भी स्पष्ट दिखाई देती है कि इतने वर्षो के प्रयास के बावजूद अभी तक सुधार का चक्र स्वय चालित नही हो पाया है। सुधार के प्रेरको मे जितनी जागरूकता और उत्कठा है, उतनी सुधार के पात्रो मे दिखाई नही दे रही है। सामयिक वेग जितना कुछ करवा जाते है, उतना ही हो पाता है, उसके पश्चात् फिर सभी ओर मौन छा जाता है। वेग का सातत्य प्राय टिक नही पाता। इस असफलता को, जो कि ऐसे कार्यो के मार्ग मे बहुधा आया ही करती है, सफलता मे बदलने का मार्ग खोज निकालने के प्रयास मे स्वय आचार्यश्री लगे हुए है। उनका प्रयास प्राय सफलता का ही पर्यायवाची हुआ करना है, अत कहा जा सकता है कि उन्होने वेग उत्पन्न किया है, तो उसमे सातत्य की व्यवस्था भी वे कर सकेंगे। इतना होने पर सुधार के चक्र मे स्वय चालितता भी आ जायेगी।

आन्दोलन के लिए एक यह बात भी विशेष ध्यान देने की है कि इसमे अभी तक नारी-समाज की शक्ति यथेष्ट नही लग पायी है। यद्यपि नारी-वर्ग मे चेतना जरूर आई है, वृत्तियो मे अनेक परिवर्तन भी हुए है, परन्तु उनमे से अधिकाश या तो किसी विवशता से फलित हुए है या फिर श्रद्धातिरेक से। स्वय के जागृत विवेक से फलित होने वाले परिवर्तन नगण्य जैसे है। स्वर्णभूषणो का व्यामोह अभी उनके मन से हट नही पाया है। सादी वेष-भूषा और सात्त्विक खान-पान से अभी उन्हे अपने गौरव का समाधान नही मिल पाता। मुह पर से पर्दा हटा देने से किसी प्रकार की शालीनता या लज्जा की मर्यादा का भग नही होता, यह विचार अभी तक उनमे यथेष्ट व्यापकता नही ले पाया। अज्ञान और रूढियो के घेरे से बाहर निकलने की व्याकुलता होने पर भी तदनुकूल अपेक्षित साहस अभी कोसो दूर प्रतीत होता है। ये ही कुछ कारण कहे जा सकते है कि जिनसे समाज के इस महत्त्वपूर्ण अर्धांश का सहयोग अणुव्रत आन्दोलन को खुलकर नही मिल पाता है।

नारी-समाज जिस दिन आन्दोलन की भावना को विवेक पूर्वक हृदयगम कर लेगा और उसमे अपनी शक्ति लगानी प्रारम्भ कर देगा, उस दिन मानना चाहिए कि अणुव्रत आन्दोलन एक बहुत बड़ी मजिल तय कर लेगा। नारी के विवेक की

प्रसुप्तावस्था समाज के लिए जहा एक भयकर अभिशाप होती है, वहा उसके जागरण की अवस्था एक महनीय वरदान। यदि यह वरदान अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से समाज को प्राप्त होता है, तो इससे जहा रूढि-मुक्त और सुचरित्र समाज के निर्माण का कार्य बहुत आगे वढ सकेगा, वहा स्वय आन्दोलन के कार्य को भी नये क्षितिज और नये आयाम प्राप्त होगे।

समाज के निर्माण में महिलाओं की भूमिका

समाज की गाडी के दो चक्के है—पुरुष और नारी। एक चक्के से गाडी नही चलती। दो चक्के आवश्यक और अनिवार्य है। दोनो समान और सवल होने चाहिए। असमान और निर्बल चक्के गति मे साधक न होकर बाधक ही बनते हैं।

आज के परिप्रेक्ष्य मे भारतीय समाज मे नारी की स्थिति के विपय मे सोचा जाता है तो लगता है कि वह चक्का बराबर नही है। ज्ञान, कार्य एव अधिकार आदि सभी क्षेत्रो मे उसे आगे बढने की आवश्यकता है। परम्पराओ और वैधानिक स्थितियो मे परिवर्तन अवश्य आया है। उसका कुछ-कुछ लाभ भी सामने आने लगा है, परन्तु अभी तक वहुत वडा क्षेत्र अनवगाहित पड़ा है।

महिलाओ के प्रति सामाजिक चिन्तन मे निश्चित ही अन्तर आया है, परन्तु कार्य परिणति के क्षेत्र मे उसकी गति इतनी मन्द रही है कि वह अगति का सन्देह उत्पन्न करती है। उदाहरण के लिए पर्दा-प्रथा को लिया जा सकता है। कुछ वर्ष पूर्व आचार्यश्री ने इस प्रथा के उन्मूलन पर काफी वल दिया था। उस समय लगता था कि यह प्रथा अव कुछ ही वर्पो मे नामशेष हो जायेगी। परन्तु ऐसा नही हो पाया। जोश के प्रथम प्रवाह के निकल जाने के पश्चात् वही पुरानी उदासी छा गई। इसीलिए अनेक नगरो की धर्म-परिषद् की ओर जब देखता हू तव अधिकाश महिलाए अवगुठनवती ही दृष्टिगत होती है। सोचता हू कि जो परिवर्तन आया, वह सामयिक जोश का ही प्रतिफल था। चिन्तनपूर्वक विचारो मे जो परिवर्तन अपेक्षित था, वह अभी तक फलित नही हुआ है। सामयिक जोश तो बरसाती नाले से अधिक कोई महत्त्व नही रखता। सीमित समय के पश्चात् अवरुद्ध हो जाना ही उसकी नियति होती है। सुचिंतित जोश वास्तविक होता है। उसमे सदातोया नदी के समान निरन्तरता होती है।

मृतक के पीछे लम्बे समय तक शोक की वैठक करते रहना, गगा मे फूल डलवाना, विवाहादि अवसरो पर अनेक रूढ़ियो को प्रश्रय देना आदि सामाजिक दोष मर-मरकर वापस जीवित होते रहते हैं, इनसे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक

परिवर्तन जोश या दबाव के क्षणो में स्वीकृत होते हैं। उनका प्रभाव हटते ही मानसिक दुराग्रह पूर्ववत् फन फैलाकर खडे हो जाते हैं।

परम्पराओ, प्रथाओ तथा रूढ़ियो का अस्तित्व यो तो पुरुषो तथा महिलाओ—दोनो के ही आश्रय की अपेक्षा रखता है फिर भी महिलाओ का आश्रय उनके लिए अधिक शक्तिदायक होता है। जिस प्रथा या परम्परा को केवल पुरुषो का आश्रय प्राप्त होता है वह प्राय स्वल्पजीवी होती है परन्तु जिसे महिलाओ का आश्रय मिल जाता है, उसे सौ-सौ प्रयासो के बाद भी हटा पाना कठिन होता है।

जिस समाज की महिलाए सुशिक्षित तथा विचार-प्रवण होती है उस समाज को उन्नत होते देर नही लगती। वे यदि रूढियो मे जकडी है तो पुरुषो की शिक्षा-दीक्षा की ऊचाइया बौनी बनकर रह जाती हैं।

क्षेत्र आध्यात्मिक हो चाहे सामाजिक, प्रत्येक मे महिलाओ की उन्नति प्राथमिकता से अपेक्षित होती है, क्योकि बालको के तादृश सस्कार-निर्माण मे उनकी भूमिका अधिक सार्थक होती है। पुरुषो को भी सुसस्कारो मे स्थिर रखने तथा बुराइयो के मार्ग पर न जाने देने मे उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता आया है। पुरुष जितना शीघ्र अपनी दुर्बलता का शिकार हो जाता है, महिला नही होती।

एक बार एक विदेशी ने महात्मा गाधी से पूछा—"भारतीय महिलाए ही अच्छे पति की आकाक्षा से उपवास क्यो करती है, अच्छी पत्नी के लिए पुरुष क्यो नही करते ?" महात्माजी ने कहा—"पत्निया कभी बुरी नही होती, पति कभी-कभी बुरे भी होते है, अतः महिलाए ही उपवास करती है।"

महात्मा गाधी का उक्त विश्वास महिलाओ की क्षमता के अनुरूप ही है। उस क्षमता को जागरूक रखकर ही समाज या राष्ट्र की उन्नति को सुरक्षित किया जा सकता हैं।

युग की आवश्यकता : स्याद्वाद

(मुनिश्री बुद्धमल ने दिल्ली मे अनेक चातुर्मास किए है। अनेक विशिष्ट विचारक और राजनेता मुनिश्री के सम्पर्क मे आए हे। उनसे देश की वर्तमान स्थिति, अणुव्रत की भूमिका आदि अनेक विषयो पर मुक्त विचार-मथन हुआ हैं। इसी सन्दर्भ मे भारत के उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन के साथ हुआ वार्तालाप उल्लेखनीय है। लगभग पचास मिनट तक चले उस वार्तालाप के कुछेक विन्दु ही सकलित हो पाए है। प्रस्तुत आलेख उस सकलन की निष्पत्ति है। —(सम्पादक)

मुनिश्री बुद्धमल—'आज जो भौतिक विचारधारा हर मनुष्य के जीवन का अग वन गई है, उसमे अगर आत्मवादी विचारधारा का पुट रहे तो जीवन की भयकरता दूर हो जाए तथा जीवन का रूप सुन्दर हो जाए।'

उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन्—'मै भी ऐसा मानता हू। आज पाश्चात्य जगत भी इस तथ्य को आवश्यक समझ रहा है। विशेषकर हमारे जीवन के सारे कार्य आत्म-जागृति के साधन रूप होने चाहिए। वास्तव मे हमारा लक्ष्य आत्मज्ञान का साक्षात्कार ही तो है। विशेषकर आप साधुओ को आत्मवादी विचारधारा का प्रचार करने के लिए दूर तक जाना चाहिए। मानव-समाज सारे जगत् मे फैला हुआ है—भगवान् महावीर तथा पार्श्वनाथ के समय मे तो इतने आवागमन के साधन नही थे, परन्तु आज तो देहली से न्यूयार्क तक जाना भी उतना ही सरल है, जितना कि काशी से कलकत्ता।'

मुनिश्री—हम पदयात्री है। हमारे लिए यह सभव नही है। जैन साधुओ की अहिंसा से अनुप्राणित जीवन-चर्या युग के लिए एक आदर्श है।

डॉक्टर राधाकृष्णन्—'जैन धर्म मे आचरण की मुख्यता है, यह सच है। आज विशेष रूप मे शुद्ध आचरण की ही आवश्यकता है। हर धर्म के आदर्श तो वहुत ऊचे है, लेकिन उनका प्रायोगिक रूप वैसा नही। यही तो कारण है कि एटम वम, हाइड्रोजन वम तथा अन्य विनाशकारी तत्त्वो का जन्म हुआ है और होता जा रहा है। आदर्शो को जीवन मे उतारने वाले कभी ऐसा काम नहीं कर सकते। सच तो यह है कि जहा एक हाथ मे धार्मिक पुस्तक रहती है, वहा दूसरे

हाथ मे तलवार। जरूरत आज इसी की है कि जीवन का व्यावहारिक रूप अच्छा हो।'

मुनिश्री—'आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत आन्दोलन एक ऐसा ही उपक्रम है—केवल आदर्शों का ही रूप नही, वरन् जीवन की क्रिया मे मलिनता न हो, इस ओर भी प्रयास किया जा रहा है। आचार्यश्री इसी उद्देश्य से निरन्तर पूरे देश की यात्रा कर रहे है।

'जैन दर्शन मे आचार के साथ विचार की भी प्रधानता रही है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से एक ही सत्य को अनेक रूपो मे आका जा सकता है। ये सभी रूप सत्य के ही अग होते है। जैन दर्शन अन्य विचारो के साथ भी समन्वय का दृष्टिकोण रखता है। यह इसकी विचार सम्वन्धी अहिसा का द्योतक है।'

डॉ० राधाकृष्णन्—'आज जैन धर्म की स्याद्वादी विचारधारा की इस युग को महती आवश्यकता है तथा दुनिया इसको महसूस भी कर रही है। आज रूस और अमेरिका एक-दूसरे के विरोधी-से प्रतीत होते है, परन्तु उनको निकट लाने के प्रयत्न भी सफल हो रहे है।

'यह सच है कि जहा एक दृष्टिकोण से एक-दूसरे मे अन्तर है, वहा अन्य दृष्टिकोण से एक-दूसरे के निकट भी है। जैन धर्म की अन्य विचारो के साथ जो सहिष्णुता है, वास्तव मे वह वहुत ही अनुकरणीय है। इस्लाम धर्म वाले चाहते हैं कि सव अन्य धर्म समाप्त हो जाए और केवल इस्लामी राज्य सारे जगत मे हो। ईसाई धर्म वाले भी चाहते है कि एक-एक मनुष्य ईसाई वन जाए तथा अन्य धर्म न रहे।'

मुनिश्री—'शकराचार्य आदि अनेक प्राचीन विद्वानो तथा वर्तमान के कुछ विद्वानो ने स्याद्वाद को वहुत गलत समझा है, यहा तक कि स्याद्वाद को छल तथा सशयवाद भी कहा है। स्याद्वाद के सम्वन्ध मे आपके क्या विचार है?'

श्री राधाकृष्णन्—'मैने भी 'इण्डियन फिलासफी' मे एतत् सम्वन्धी विचार लिखे है, परन्तु मैने करीव ३० वर्ष पहले इस सम्वन्ध मे पढा था। विचारो मे समन्वय का दृष्टिकोण वहुत जरूरी है। मैं तो स्वय भी स्याद्वादी हू—विचारो मे समन्वय रखना अनिवार्य समझता हू। मै सव धर्मो के जलसो मे शरीक होता हू। मेरा अधिक समय पढने-लिखने मे वीता है, यद्यपि अव तो उतना समय मिलता ही नही है, पर अव मैं इस निर्णय पर पहुचा हू कि दुनिया के लिए पढने-लिखने की अपेक्षा उसे सही रूप मे जीवन मे आचरण करना अधिक आवश्यक है।'

सदाचार से जुड़े प्रश्न

प्रश्न—साधु ने जब संसार को छोड ही दिया है तब उसे यहा क्यो रहना चाहिए ? उसे तो सबसे अलग कही एकात मे चले जाना चाहिए।[1]

उत्तर—यहा से आपका तात्पर्य इस कमरे या ग्राम से है अथवा इस पृथ्वी से। पृथ्वी से तो एक दिन सभी को चले जाना है। अत साधु भी चले जाएगे। परन्तु तब यह जानना आसान नही होगा कि जो यहा से गए, वे वस्तुत ही चले गए, अथवा शरीर-परिवर्तन कर यही कही रह रहे हैं। यदि वे सचमुच ही कही अन्यत्र चले जाएगे, तब भी जहा जाएगे वहा ससार ही तो होगा। तब फिर यही प्रश्न सामने आएगा कि ससार को छोडने वाला आखिर कहा जाए ? मुझे लगता है कि ससार को छोडने का अर्थ ही गलत लिया जा रहा है। उसका अर्थ कोई कमरा, ग्राम या पृथ्वी आदि क्षेत्र विशेष को छोड देने से सम्बद्ध नही है वहा तो ससार के प्रति जो मोह का बन्धन होता है, उसे ही छोडने का अर्थ है। यदि मोह का बन्धन छोड दिया जाता है, तो फिर यहा रहते हुए भी ससार छूट जाता है। अन्यथा कही भी नही छूटता।

दूसरी बात है एकान्त मे चले जाने की। जैन परम्परा मे दोनो ही प्रकारो को मान्यता दी गई है। आगम निर्दिष्ट योग्यता पा लेने के बाद इच्छा हो तो विजन मे रहकर एकान्त और मौन साधना की जा सकती है अन्यथा समूह मे रहकर भी। जब तक वह योग्यता प्राप्त नही हो जाती, तब तक के लिए हर साधु को सघ मे रहते हुए भी गुरु के पास अभ्यास करना आवश्यक होता है। एकान्त शब्द के अर्थ मे भी कुछ अपेक्षाए दिखाई देती हैं। जहा एक मात्र साधक के अतिरिक्त कोई दूसरा न हो उसे एकान्त कहे, तो यह प्रश्न सहज ही उठता है कि दूसरा कौन न हो ? मनुष्य ही या पशु-पक्षी भी। पशु-पक्षी भी तो ध्यान मे बाधा डाल सकते हैं ?

---

१. सन् १९६१ मे मुनिश्री के जोधपुर प्रवास के समय प्रेस कान्फ्रेंस तथा रोटरी क्लब आदि विभिन्न संस्थाओं मे हुए कार्यक्रमो मे प्रस्तुत की गई जिज्ञासाओं के समाधान।

अपनी क्रीडाओ के द्वारा उसके मन मे विकार उत्पन्न करने मे वे सहायक वन सकते है। तब फिर दूसरे से केवल मनुष्य के न होने की ही जो सीमा एकान्त के लिए वाधी जाती है वह सापेक्ष ही तो ठहरती है। उसके अतिरिक्त जगल मे यदि गुरु के साथ शिष्य रहता हो तो उमे भी एकान्त ही कहा जाता है। यो एकान्त स्वय अनेकान्त वन जाता है। सर्वत्र उसकी सीमा किसी विशेष दृष्टिकोण से ही निर्धारित की जाती रही है। अत जगल मे चले जाने मात्र को ही एकान्त मान लेना परिपूर्ण नही होगा।

प्रश्न—पैदल चलने से आप लोगो का समय व्यय तो अधिक होता है और कार्य स्वल्प। यदि इस रूढि को छोड दिया जाए और वर्तमान की वैज्ञानिक उपलब्धियो का उपयोग किया जाए तो क्या हर्ज है ? उससे अणुव्रत के प्रसार मे त्वरता आ सकती है।

उत्तर—हम अणुव्रत भावना को आम जनता मे प्रसारित करना चाहते हैं। अत यह आवश्यक है कि जन-साधारण से अधिकाधिक परिचय किया जाए। यह पद-यात्रा से ही सम्भव हो सकता है। कार्य-विस्तार की दृष्टि से केवल बडे-वडे शहर ही नही, किन्तु छोटे-छोटे ग्रामो को कार्य क्षेत्र वनाना आवश्यक होना है। भारत की अधिकाश जनता अब भी ग्रामो मे ही बसती है। उन तक पहुचने के लिए पैदल चलने मे समय का व्यय तो अवश्य होता है पर अपव्यय नही।

वैज्ञानिक उपलब्धियो का उपयोग नही किया जाना चाहिए, ऐसा कोई नियम नही है। फिर भी पद-यात्रा के विषय मे साधुओ के लिए एक अनिवार्य विधान है। यह कोई रूढि नही, किन्तु एक सुविचारित और सुविहित तथ्य है। जैन परम्परा ने इसे एक उच्च वैचारिक भूमिका के रूप मे स्वीकार किया है। हर सस्था मे इसी प्रकार के कुछ उच्च आदर्श होते है और वे वैज्ञानिक उपलब्धियो के नाम पर छोडे नही जाते। काग्रेस ने अपने सदस्यो के लिए यह आवश्यक माना कि वे शुद्ध खादी का ही उपयोग करे। आज भी वही माना जा रहा है जवकि वैज्ञानिक उपलब्धिया वहुत आगे वढ चुकी है।

मोटर या हवाई जहाज का उपयोग करने से फिर हमारा हवाई सम्पर्क तो सम्भव हो जाता है, पर जन-सम्पर्क छूट जाता है। जन-मानस का विचार-स्तर जव रसातल की ओर जा रहा हो, उस समय हवा मे उडने से उसकी सुरक्षा नही की जा सकती। धरातल पर टिककर ही रोका जा सकता है। प्रसार मे त्वरता आए यह आवश्यक तो है पर उससे भी अधिक आवश्यक यह ध्यान रखना है कि कही उस त्वरता मे वास्तविकता पीछे न छूट जाए।

प्रश्न—मैं अणुव्रत आन्दोलन का आलोचक रहा हू। मुझे लगता है कि अणुव्रत आन्दोलन ने देश की उन्नति के लिए कोई कार्य नही किया। क्या आप कोई ऐसा

प्रत्यक्ष उदाहरण दे सकते है, जिससे यह सिद्ध हो सके कि अणुव्रत आन्दोलन ने यह कार्य किया है ?

उत्तर—अणुव्रत आन्दोलन के आप आलोचक है तो आपने स्वय ही यह सिद्ध कर दिया है कि यह एक जीवित आन्दोलन है। इस आन्दोलन ने आपके मन को झकझोरा है तभी तो आपने उसके विषय मे कुछ सोचा है, धारणाए बनाई है। यह दूसरी बात है कि आपको उसमे कुछ त्रुटिया दिखाई दी है। अत आप उसके प्रशसक न होकर आलोचक हो गए है। आपकी धारणा है कि अणुव्रत आन्दोलन ने देश की उन्नति के लिए कोई कार्य नही किया है। परन्तु मै पूछना चाहूगा कि आप किस प्रकार के कार्य को देश की उन्नति करने वाला मानेगे—भौतिक कार्य को या चारित्रिक कार्य को ? यदि भौतिक कार्य को ही उन्नति का हेतु मानते है तो मुझको नि सदेह यह मान लेना चाहिए कि अणुव्रत आन्दोलन ने देश की उन्नति का कोई कार्य नही किया है। परन्तु मै मानता हू कि भौतिक उन्नति से भी कही अधिक मूल्यवान चारित्रिक उन्नति है और उस क्षेत्र मे आन्दोलन ने कुछ कार्य किया है। जब देश की भौतिक उन्नति के लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी सगठनो द्वारा नाना प्रकार की योजनाए चलाई जा रही है तब उन्ही मे से एक बनकर यह आन्दोलन कुछ भी विशेष नही कर पाता। परन्तु इसने देश की आवश्यकता के एक नये कोण को छुआ है। वह यह मानकर चला है कि चारित्रिक उन्नति के अभाव मे कोई भौतिक योजना समुचित रूप से सफल नही हो सकती। वर्तमान योजनाओ मे पकडे गए लाखो रुपयो का गबन इसी बात का साक्षी है। यदि चारित्रिक सामर्थ्य परिपूर्ण होता तो अधिकारी वर्ग सारे राष्ट्र के जीवन को धोखा देने की बात सोच भी नही सकता था।

आप अणुव्रत आन्दोलन के कार्य को जानने के लिए कुछ प्रत्यक्ष उदाहरण चाहते है क्योकि आज की दृष्टि प्रत्यक्ष को ही महत्त्व देती है। परन्तु कठिनता यह है कि भौतिक योजनाओ के फल की तरह आध्यात्मिक या चारित्रिक योजनाओ का फल प्रत्यक्ष नही हो पाता। अन्न, वस्त्र व फलो के ढेर की तरह हृदय-परिवर्तन का ढेर तो नही लगाया जा सकता। भौतिक और अभौतिक वस्तुओ की तुलना की बात तो एक बार आप छोडिए। अभी तक तो भौतिक वस्तुओ मे भी परस्पर इतना अन्तर है कि उन दोनो को एक ही तराजू पर नही तोला जा सकता। पत्थर तोलने के तराजू पर हीरा कैसे तोला जा सकता है ? दृश्य वस्तुओ मे भी पारस्परिक इतना अन्तर है, तब दृश्य और अदृश्य के अन्तर की कल्पना ही क्या की जा सकती है।

फिर भी मै कुछ ऐसे कार्यो के विषय मे बतलाना चाहूगा जो कि आन्दोलन ने विशेष रूप से किए है। सम्भव है आप उनसे यह अनुमान लगा सकेंगे कि आन्दोलन ने कितना क्या कुछ किया है। आन्दोलन का मूल ध्येय हृदय-परिवर्तन के द्वारा जनता के चारित्रिक उत्थान का रहा है। अत उसने ब्लैक, दहेज, मिलावट, झूठ

तोल-माप और रिश्वत आदि के विरुद्ध भी वातावरण तैयार करने का प्रयास किया है। हजारो व्यक्तियो को उपर्युक्त दुर्गुणो के विरुद्ध प्रतिज्ञा-वद्ध कर देना जहा आत्म-शुद्धि के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण है वहा देश के लिए कोई कम महत्त्व का कार्य नही है।

प्रश्न—हम सवके लिए अहिसा पालन की उपयुक्त अन्तिम सीमा क्या होनी चाहिए ?

उत्तर—किसी का प्राण वियोजन न करना या किसी को कष्ट भी नही पहुचाना, यह अहिसा का स्थूल रूप है। सूक्ष्म रूप मे तो दुष्प्रवृत्ति मात्र या विकार मात्र का भी उसमे वर्जन होता है। यही उसकी अन्तिम सीमा कही जा सकती है। किन्तु प्रश्न तव थोडा टेढा हो जाता है। जवकि आप अपने लिए अहिसा की उपयुक्त अन्तिम सीमा पूछते है। मैं आपके लिए या अन्य किसी के लिए इस विषय की कोई अन्तिम सीमा-रेखा खीच सकू—यह सम्भव नही है। न मेरा यह कर्तव्य ही हो सकता है कि मैं आपकी एतद् विषयक साधना की योग्यता को किसी प्रकार के मध्यम स्तर तक ही वढने योग्य मानू। इसलिए अन्तिम सीमा तो सवके लिए पूर्ण अहिसा ही हो सकती है फिर भी जव तक उतने सामर्थ्य का कोई अपने मे अभाव महसूस करे, तव तक के लिए वह अपने सामर्थ्य को तोलकर तत्प्रमाण सीमा का निर्धारण करके भी चल सकता है। परन्तु उसे अन्तिम सीमा मान लेने की भूल तो कभी नही करनी चाहिए। मैं किसी भी सीमा का निर्धारण करू इसमे तो यह कही अच्छा होगा कि वे ही स्वय अपनी-अपनी सीमा का निर्धारण कर ले। मैं मानता हू कि हर व्यक्ति का सामर्थ्य एक जैसा नही होता अत उन सवके लिए एक सीमा भी नही हो सकती। फिर भी यदि आप उन सव व्यक्तियो के, जिन-जिन के लिए आपने यह प्रश्न उपस्थित किया है, अहिसा-पालन के क्षेत्र मे सामर्थ्य-विकास की अन्तिम सीमा वता सकेगे तो उसी के आधार पर आपके लिए अहिसा-पालन की भी उपयुक्त अन्तिम सीमा वतला सकूगा।

प्रश्न—अहिसा की दृष्टि से आततायी के प्रति क्या व्यवहार किया जाना चाहिए ?

उत्तर—आतक फैलाने वाले तथा दारुण हिसा करने वाले व्यक्तियो को आततायी कहते हैं। ऐसे व्यक्ति समाज के लिए वडे खतरनाक गिने जाते है। न्यायालय उन्हे मृत्यु-दण्ड तक देता है। उससे आगे भी कुछ कर सकने की गुजाइश होती तो शायद वह भी विधान-सम्मत ही माना जाता। 'नाततायी वधे दोषो' कहकर स्मृतिकार मनु ने भी आततायी के वध को निर्दोष ही घोषित किया है। किन्तु अहिसा का दृष्टिकोण इससे भिन्न रहा है। सर्वत्र आत्मवत्ता की भावना मे से अहिसा का उद्भव हुआ है। अत वहा किसी भी स्थिति मे वध को उपयुक्त नही माना जा सकता। यहा तक कि सामाजिक न्याय जहा उसे उपयुक्त मानता

है, वहा भी नही। अहिसा का सिद्धान्त सामाजिक न्याय से कही ऊचा है, वह उसका परिष्कर्ता है। सामाजिक न्याय वहुधा वहुमत की धारणाओ के आधार पर आश्रित होता है, जवकि 'सत्य' उससे पृथक भी हो सकता है। ईसा और सुकरात को खतरनाक व्यक्ति घोषित कर मृत्युदण्ड की व्यवस्था करने वाला तत्कालीन न्याय ही तो था। पर क्या वह ठीक था? गान्धी को गोली मारने वाले गोड्से ने भी अपनी तथा अपने पक्ष-पोपको की दृष्टि मे हिन्दू जाति के लिए खतरनाक व्यक्ति को मारकर औचित्य का ही तो पालन किया था। आज ईसा, सुकरात और गान्धी महापुरुष माने जाते है। न सामाजिक न्यायालय की स्वीकृति उनकी महत्ता को रोक पाई और न पक्ष विशेष की स्वीकृति। इसी प्रकार आज की परिभापा मे जो आततायी है, हो सकता है कि कालान्तर मे वे जनमान्य नेता या मानवता के पथदर्शक भी मान लिये जाए।

जो वस्तुत आततायी होते है और जिन्हे न्यायालय भी आततायी घोषित करता है, उनके वध मे भी यह वात सोचने की रह जाती है कि कोई भी व्यक्ति यदि आततायी वनता है तो उसमे क्या समस्त दोष उसी का ही होता है, अथवा समाज के वातावरण तथा समाज की अपूर्णताओ का भी उसमे सहयोग होता है? यदि सामाजिक दोषो ने उसे आततायी वनने को वाध्य किया है तो न्यायालय आततायी का वध करने की आज्ञा देते समय क्या पूर्णत उसके साथ न्याय ही करता है?

मनोविज्ञान वडे से वडे दोषी को भी एक रोगी मानने को कहता है। रोगी को मिटा देना ही रोग को मिटा देना नही हो सकता। आज तक के उपाय प्राय रोगी को मिटा देने के ही रहे है—पर अव अहिसा ने मनुष्य को एक नयी दृष्टि प्रदान की है। वह आततायी को एक रोगी मानती है और उसके उपचार मे धैर्य और सहनशीलता के अतिरिक्त करुणा और सहानुभूति की भी वहुत वडी आवश्यकता है। कुछ सामाजिक वाध्यताए उसे आततायी वना सकती है तो कुछ सहानुभूति उसे एक श्रेष्ठ नागरिक भी वना सकती है। मनुष्य मे जो सुधार सम्पूर्ण जीवन मे नही हो पाता वह उसके अन्तित क्षणो मे सम्पन्न हो सकता है।

प्रश्न—नैतिकता की परिभाषा हर काल मे वदलती रही है। तव फिर वास्तविक नैतिकता किसे कहा जाए?

उत्तर—सामाजिक जीवन को अनिष्ट मार्ग पर वढने से रोकने के लिए जो सामूहिक प्रतिवध लगाए जाते है, मेरी दृष्टि मे वही नैतिकता के नियम होते हैं। ज्ञान-विज्ञान की अभिवृद्धि के साथ-साथ वदलती हुई प[illegible]
सामाजिक जीवन पद्धति मे परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। फिर
के साथ जीवन-क्रम को उच्च से उच्च स्तर तथा सत्य से [illegible]
वनाने का प्रयास ही उसका लक्ष्य होता है।

वास्तविक नैतिकता के पथ पर प्रतिष्ठित करना हो, तो वह सत्य ही हो सकता है। जिस प्रकार एक कमरे मे प्रविष्ट होने के लिए अनेक द्वार होते हैं। उनमे से विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न द्वारो की प्रमुखता बदलती रहती है। द्वारो की प्रमुखता का बदलते रहना केवल सुविधा के लिए होता है। मूल बात तो कमरे मे प्रविष्ट होना है। उसी प्रकार नैतिकता की बदलती हुई परिभाषाए सत्य के कमरे मे प्रविष्ट होने के लिए विभिन्न परिस्थितियो मे खोले गए विभिन्न द्वार है। उनके बदलते रहने पर भी सत्य नही बदलता।

प्रश्न—धूम्रपान और मद्यपान को व्यसन क्यो कहा जाता है? ये तो आजकल की सभ्यता के आवश्यक अग हैं।

उत्तर—प्रश्न के प्रथमाश एक प्रश्न है और द्वतीयाश एक स्थापना। प्रथमाश का उत्तर है कि ये दोनो ही शरीर धारण के लिए आवश्यक और अनिवार्य तो हैं ही नही, परन्तु बहुधा अनेक रोगो के कारण बनने से उसमे बाधक ही होते हैं। एक बार लत पड जाने पर मनुष्य को उनका आसेवन दुहराते रहने के लिए विवश हो जाना पडता है। यही कारण है कि उन्हे दुर्व्यसन कहा जाता है। पशु अपने खाद्य पेय के विषय मे प्राय आन्तरिक माग को आधार मानकर चलता है। पर मनुष्य उसका अतिक्रमण भी करता रहता है। यह अतिक्रमण उसे अस्वाभाविकता की ओर ले जाता है। धूम्रपान और मद्यपान सहज नियमो का अतिक्रमण है।

प्रश्न के द्वितीयाश मे जो यह स्थापना की गई है कि ये सभ्यता के आवश्यक अग है, मै इससे सहमत नही हू। साधारणत सभा मे बैठने वाले उपयुक्त व्यक्ति को अथवा शिष्ट बर्ताव करने वाले व्यक्ति को सभ्य कहा जाता है। धूम्रपान करने वाला व्यक्ति अपने आसपास के वातावरण को जहरीले धुओ से भर देता है किन्तु उसमे दूसरो को जो असुविधा होती है वह प्राय उस पर ध्यान नही देता। इसी प्रकार मद्यपान करने वाला व्यक्ति उन्मत्त होकर पागल की तरह व्यवहार करने लगता है। सभ्यता के लिए जिस विवेक और बुद्धि की आवश्यकता होती है, मद्यपान के द्वारा उनको आच्छन्न कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति मे ये दोनो शिष्टता के नही, किन्तु अशिष्टता के ही चिह्न हो सकते है। इन दोनो को आधुनिक सभ्यता का अग मानना भ्रम मात्र है। यदि आज तक ऐसा माना गया है या माना जा रहा है, तो इस धारणा को बदल देना चाहिए।

प्रश्न—किसी भी वक्तव्य का स्थायी प्रभाव क्यो नही होता? चरित्र सम्बन्धी उपदेश बार-बार क्यो दुहराए जाते है?

उत्तर—साधारणतया किसी भी वक्तव्य का असर न होने मे दो ही कारण हो सकते है। प्रथम तो यह कि वक्ता अपनी बात को व्यवस्थित और रुचिपूर्ण ढग से रखने की क्षमता न रखता हो तथा द्वितीय यह कि श्रोता की उपयुक्त पात्रता न हो। परन्तु यहा केवल प्रभाव के लिए नही पूछा गया है। उसके पीछे एक विशेषण

'स्थायी' जोडा गया है। स्थायी प्रभाव क्यो नही होता ? इस प्रश्न मे यह स्वत सिद्ध है कि एक बार प्रभाव अवश्य होता है, पर वह टिकता नही। यदि प्रभाव होता ही नही तव तो वक्ता के लिए सोचने की बात थी। परन्तु प्रभाव होता तो है, टिकता नही, तव आप लोगो के लिए सोचने की बात है। वस्तु का ही अभाव हो तो पात्र का उसमे कोई दोष नही, परन्तु वस्तु डालने पर यदि वह पात्र मे टिक नही पाती हो, तो अवश्य ही उसमे कोई-न-कोई छेद है।

प्रश्न के दूसरे अश का उत्तर यह है कि जब दुराचरण के ससर्ग का भय निरन्तर रहता है, तव उससे बचने के लिए बार-बार सावधान करना भी आवश्यक है। भूल वार-वार हो तो सुधार भी बार-बार अपेक्षणीय है। अन्यथा शेष मे भूल ही रह जाती है। सम्भव है, आप यह महसूस करते हो कि ऐसा करके छात्र वर्ग की स्मृति-शक्ति पर अविश्वास प्रकट किया जा रहा है। परन्तु ऐसी बात नही है। कहा जाता है कि असत्य बात को सौ बार दुहराने से वह सत्य लगने लगती है। तब फिर सन्तुलन रखने के लिए सत्य को दुहराना भी आवश्यक हो जाता है। अन्यथा असत्य को ही सत्य समझा जाने लगेगा। सत्य को कभी सम्मुख आने का अवसर ही नही रहेगा।

प्रश्न सदाचार और नैतिकता के लिए इतना प्रयास होते हुए भी भ्रष्टाचार प्रतिदिन बढता जा रहा है। इसका क्या कारण है ? स्वतन्त्रता के बाद यह बहुत ही तीव्रता मे बढा है।

उत्तर इसमे मुख्य कारण तो मनुष्य की अपनी कमजोरी ही है। पर कुछ असर वातावरण का भी कहा जा सकता है। पर इस प्रश्न को एक-दूसरे दृष्टिकोण से यो भी देखा जा सकता है—होमियोपैथी चिकित्सा पद्धति मे यह माना जाता है कि जब औषधि दी जाती है, तब अन्दर जमा हुआ रोग उभरने लगता है। रोग का यो अप्रत्याशित उभार देखकर घबराने की आवश्यकता नही होती। क्योकि उसमे दबी हुई रुग्णता बाहर निकल जाती है तब व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उभरने वाली भ्रष्टाचारिता भी एक प्रकार से रोग का उभार ही है। परतन्त्रता की स्थिति मे दबे हुए मानसिक दोष उभर कर एक बार निकल जायेंगे तब फिर आशा करनी चाहिए कि फिर से सदाचार के वातावरण का निर्माण होगा।

प्रश्न आपकी दृष्टि मे सदाचार साधन है या साध्य ?

उत्तर सदाचार को मैं साधन मानता हू, साध्य नही। साध्य तो जीवन की पूर्ण पवित्रता अथवा निर्दोषता है। सदाचार के द्वारा उस उच्च आदर्श तक पहुचा जाता है।

व्यक्ति

आत्म-जागरण के उपदेष्टा · भगवान् महावीर

धुरीण-युग

ई० पू० ८०० से ई० पू० २०० वर्ष तक का काल इतिहास का धुरीण युग कहा जाता है। इस युग मे ससार के विभिन्न देशो मे अनेक ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपनी जीवन-पद्धति और विचार-पद्धति से जन-जीवन को अतिशय प्रभावित किया। चीन मे लाओत्से और कन्फयुसियस जैसे विचारक, ईरान मे जरथुस्त्र जैसे मार्गदर्शक, यूनान मे पैथागोरस, सुकरात और प्लेटो जैसे दार्शनिक भारत मे उपनिषदो के अनेक ऋषि तथा महावीर और वुद्ध जैसे आध्यात्मिक महापुरुष उसी युग की देन है। इससे ससार की विचारधारा मे युगान्तरकारी मोड आया। निपट भौतिक सुखो की याचना मे पगी हुई मनुष्य की चिन्तन-प्रणाली जड प्रकृति के अध्ययन से हटकर चैतन्य के अध्ययन की ओर उन्मुख हुई और मनुष्य के लिए वहिरग से अतरंग की ओर प्रस्थान करने का मार्ग प्रशस्त हुआ।

सर्व त्याग

भगवान् महावीर का जन्म इसी युग के पूर्वार्ध मे ई० पू० ५९९ मे हुआ। भारत का वातावरण उस समय पशु-वलि और याज्ञिक क्रिया काण्डों से परिव्याप्त था। समाज मे पुरोहितो का वहुमान था। यज्ञो मे सहस्रो पशुओ की वलि दी जाती थी। 'स्वर्गकाम यजेत, पुत्रकाम यजेत, धनकाम यजेत'—ये भौतिक कामनाए ही जीवन का ध्येय वनी हुई थी। वर्णाश्रम व्यवस्था ने समाज को अनेक वर्गों मे विभक्त कर डाला था और उच्च-नीच की भावना यहा तक फैल गयी थी कि मनुष्य ही मनुष्य के लिए अस्पृश्य वन गया था। भगवान् महावीर के समय तक ये स्थितिया अपनी चरमावस्था तक पहुच चुकी थी। उन्होंने उन सव परिस्थितियो को देखा, उनके मूल को समझा और फिर उसके निराकरण का मार्ग प्रशस्त करने के लिए साधना मे लीन हो गये। उनकी साधना किसी आवेग या जोश का परिणाम नही थी। वे जोशीले नही, गम्भीर थे। पूर्ण युवावस्था मे राज्य, ऋद्धि,

परिवार और समस्त सुख-सुविधाओ को ठोकर मारकर तपस्वी-जीवन स्वीकार करने का उनका सकल्प कोई तात्कालिक आवेग-मात्र नही था। आवेग मे आकर सव कुछ छोडा जा सकता है, पर सदा के लिए नही। सदा के लिए तो वह किसी सिद्धान्त के आधार पर ही छोडा जा सकता है और फिर सिद्धान्त यो ही एक दिन मे नही वन जाया करता। अकुर की तरह चिन्तन की भूमिका पर उसका विकास हुआ करता है। विकास की प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिए लम्वा समय अपेक्षित होता है। महावीर उस प्रक्रिया मे से गुजर चुके थे। अपने सिद्धान्त की कसौटी पर सर्वप्रथम उन्होने अपने आपको ही कसा। साढे वारह वर्ष की सुदीर्घ साधना पूर्ण हुई और आत्म-ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हुई।

'स्व' सर्व के लिए

साधना की उस चरम विकास की अवस्था मे वे जिन कहलाए। 'जिन' अर्थात् विजेता। उन्होने किसी देश को नही, आत्मा को जीता था। मैं किसी वाहरी युद्ध मे नही, अन्तर्वृत्तियो के युद्ध मे विजयी वने थे। परम विजय का मार्ग आत्मा से प्रारम्भ और आत्मा मे ही पर्यवसित होता है। स्व-विजय ही सर्व-विजय का मूल मंत्र है। 'स्व' केन्द्र है, 'सर्व' परिधि। केन्द्र के अभाव मे परिधि की कल्पना नही की जा सकती, उसी प्रकार 'स्व' को छोडकर 'सर्व' की कल्पना नही की जा सकती। महावीर की साधना का लक्ष्य 'सर्व' नही 'स्व' था। 'स्व' से प्रारम्भ कर वे 'सर्व' तक पहुचे थे। स्व-विजय के पश्चात् ही उन्होने सर्व के लिए कहा। उससे पूर्व वे मौन तपस्वी रहे। उनके प्रवचन समग्र जगत के जीवो की रक्षा हेतु तभी बन सके, जबकि वे आत्म-प्रकाश मे से नि सृत हुए। वस्तुत उनका 'स्व' सर्व के लिए उन्मुक्त हो गया।

महावीर के उपदेशो का उन्मुक्त स्वर आत्म-जागरण का स्वर है। वे किसी शक्ति-विशेष से याचना नही करते। उनका कथन तो अपनी ही अनन्त-शक्तियो मे विश्वास करने का है। जो कुछ पाना है, वह वाहर से नही अन्दर से ही पाना है, वह भी प्राप्त को ही पाना है, अप्राप्त को नही। अप्राप्त कभी पाया ही नही जा सकता। जो हमारे मे नही है, वह कभी आ नही सकता। इसी प्रकार जो हमारे मे है, वह कही जा भी नही सकता। वात केवल इतनी ही है कि जो कुछ हमारे पास है, वह अभी तक आवृत है, हमारे पास होते हुए भी हमे ज्ञात नही है। उस पर से आवरण हटा देना ही उसे पा लेना है।

वर्ण-व्यवस्था को अमान्यता

महावीर के आत्म-जागरणकारी उपदेश का परिणाम वडा गम्भीर हुआ। जो व्यक्ति या जातिया अपने को जन्मत हीन मानने लगी थी या उन्हे ऐसा मानने

के लिए वाध्य कर दिया गया था, उनमे आत्म-गौरव जागरित हुआ। हरिकेशवल जैसे चाण्डाल-कुलोत्पन्न शूद्रत्व की सीमा से वाहर निकले और सन्यस्त होकर देव-पूजित वन गये। जन्मना शूद्रत्व मानने वाले धार्मिक पुरोहितो पर भी उसका गभीर परिणाम हुआ। वे भी सहस्रो की सख्या मे भगवान् महावीर के शिष्य वनकर मानव जाति के समानत्व का प्रचार करने मे लग गये।

महावीर के समकालीन बुद्ध ने भी वर्ण-व्यवस्था को अमान्य किया था। श्रमण परम्परा की इन दोनो धाराओ ने एक वार के लिए समग्र भारत की आत्मा को आन्दोलित कर दिया था। यह दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि वह आवाज कालान्तर मे क्षीण हो गयी और वर्ण-व्यवस्था को मान्य करने वालो ने पुन प्रवलता से उसकी स्थापना कर डाली। परन्तु तव से वह आवाज कभी वन्द नही हो पायी। आगे से आगे अनेक व्यक्तियो ने, यहा तक कि स्वय वैदिक धर्म को मान्य करने वालो ने भी वह आवाज उठायी। इस युग मे महात्मा गाधी ने तो इसे समग्र भारत का एक यक्ष-प्रश्न वना दिया था। फिर भी अभी तक आत्म-जागरण की वह लौ सर्वथा वुझी नही है, तो इतने वेग से प्रज्वलित भी नही हो पायी है कि जिससे वर्ण-व्यवस्था की वह पुनरुजीवित भावना जलकर राख हो जाए। यद्यपि वर्ण-व्यवस्था से उत्पन्न अस्पृश्यता को भारत ने आज कानूनी अपराध घोषित कर दिया है फिर भी व्यावहारिक धरातल पर अभी उसे पराजित करना शेष है। आत्म-जागरण का अभाव ही उसमे वाधक वना हुआ है। कानून अपने आप मे निर्जीव ही वना रहता है, जव तक कि जनता के आत्म-जागरण का चैतन्य उसमे नही आ जाता।

नारी जागरण का सूत्रपात

वर्ण-व्यवस्था को अमान्य करने के अतिरिक्त भगवान् महावीर की दूसरी सामाजिक देन थी—नारी-जाति का जागरण। उस युग मे नारी का महत्त्व एक भोग-सामग्री से वढकर कुछ नही था। धन-धान्य आदि के समान वह भी परिग्रह की ही एक वस्तु मात्र थी। उसके शोषण की कहानी करुणार्द्र कर देने वाली है। मनुष्य ने मन्दिरो मे उसे देवदासी वनाया, विधवा हो जाने पर पति के शव के साथ ही दग्ध हो जाने के लिए वाध्य किया, पाप, पतन और नरक की काली छाया कहकर त्याज्य वतलाया। नारी ने भी उस सवको अपना दुर्भाग्य समझकर स्वीकार कर लिया। उसके परित्याग की कहानी रामायण से लेकर निरन्तर सुनने मे आती रही है। इस प्रकार की कठोर पृष्ठभूमि मे महावीर की उक्त देन का महत्त्व आका जा सकता है। उनके सम-सामयिक गौतम वुद्ध जैसे समर्थ व्यक्ति भी अपने सघ मे नारी को स्थान देने का साहस नही कर पाये थे। वाद मे जव अपने प्रिय शिष्य आनन्द के दवाव से उन्होने स्त्री को सघ मे स्थान दिया तो अनिच्छा से ही दिया और उसे सघ के लिए खतरा वतलाया जो कि वाद मे सत्य भी निकला। परन्तु

महावीर को न कभी वैसा भय हुआ और न उनके सघ मे कभी वैसी स्थिति पनपी ही। उन्होने साधना के क्षेत्र मे पुरुष के समान ही स्त्री को महत्त्व दिया और उसे मोक्ष की अधिकारिणी माना। आज समानता की वात करना सहज है, परन्तु आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व ऐसा सोच पाना भी सहज नही था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि तव इसे सिद्धान्ततः प्ररूपित करने और वैसी व्यवस्था कर उसे कार्य रूप देने मे कितना साहस और धैर्य चाहिए था। महावीर के इस कार्य को नारी-जाति के आत्म-जागरण का सूत्रपात कहा जा सकता है।

अहिसा और अनेकान्त

अहिसा और अनेकान्त भगवान् महावीर की आध्यात्मिक और दार्शनिक देन कही जा सकती है। यज्ञ की हिसा को हिसा तक न मानने वालो के युग मे वायु और वनस्पति तक के सूक्ष्म जीवो के प्रति आत्मीयता वतलाना तथा समग्र विश्व मे अहिसा-स्थापना की भावना रखना वहुत वडे आत्म-विश्वास की ही वात हो सकती है। उनकी अहिसा-वृत्ति का प्रभाव इतना व्यापक हुआ कि हिसा-धर्मियो को भी '**अहिसा परमो धर्म**' कहने के लिए वाध्य होना पड़ा।

आचार क्षेत्र मे जहा अहिसा ने अध्यात्म भाव को आगे वढाकर जन-मानस को जगाया, वहा विचार-क्षेत्र मे अनेकान्तवाद ने। यद्यपि भगवान् महावीर ने अहिसा और अनेकान्त का उपयोग धर्म-क्षेत्र मे ही किया, परन्तु ये सामाजिक, राजनीतिक आदि अन्य क्षेत्रो मे भी सघर्ष-मुक्ति और समन्वय के लिए उपयोगी हो सकते है।

अहिंसावतार भगवान् महावीर

आध्यात्मिक महापुरुषो मे भगवान् महावीर का नाम बडे गौरव के साथ अग्रिम श्रेणी मे लिया जाता है। उन्होने भौतिकवाद मे पगी जनता की विचारधारा को आध्यात्मिकता की ओर युगान्तरकारी मोड प्रदान किया तथा जड प्रकृति की गवेषणा मे व्यस्त मानवीय चिन्तन को चेतनामय आत्मा की गवेषणा का नया आयाम दिया। उसमे मनुष्य के लिए स्थूल से सूक्ष्म की ओर तथा बहिरग से अन्तरग की ओर प्रस्थान करने का मार्ग प्रशस्त हुआ। उन्होने अपनी जीवन-पद्धति और विचार-पद्धति—दोनो से ही जन-मानस को अत्यन्त प्रभावित किया। अहिंसा धर्म के तो वे अवतार ही माने जाते थे।

रमे नही वैभव में

भगवान् महावीर वैभव मे जन्मे और वैभव मे ही पले-पुसे। परन्तु उनका मन उसमे नही रमा। वे मानवीय सस्कारो के विषय मे सोचते, मनन करते और उन्हे विकसित करने के उपाय खोजते। वह ऐसा युग था, जिसमे धर्म के नाम पर सहस्रो निरीह पशुओ की वलि दी जाती थी। वर्णाश्रम-व्यवस्था का रूप इतना दूषित हो गया था कि उससे मनुष्य ही मनुष्य के लिए अस्पृश्य बन चुका था। दास-प्रथा ने मनुष्य के जीवन को पशु से भी हीनतर बना दिया था। समाज के अर्धांग नारी जाति के लिए विकास के सब द्वार बन्द किये जा चुके थे। वह मात्र एक भोग-सामग्री के रूप मे ही प्रतिष्ठित रह गयी थी।

साधना के पथ पर

भगवान् महावीर ने इन सभी परिस्थितियो को देखा, उनके मूल को समझा और फिर उनके निराकरण का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उन्होंने पहले पहल स्वय को साधने की तैयारी की। तीस वर्ष की परिपूर्ण युवावस्था मे समग्र परिवार और राज्य का मोह छोडकर वे साधना में लीन हो गये। साढ़े बारह वर्ष की सुदीर्घ साधना के द्वारा उन्होंने स्वयं को ही अपने सिद्धान्तो की कसौटी पर परखा। आखिर

साधना पूर्ण हुई। आत्मज्ञान की प्रखर ज्योति प्रज्वलित हुई। आत्म-विजय की उस परमोन्नत अवस्था मे वे 'जिन' कहलाए। जिनत्व-प्राप्ति के पश्चात् ही उन्होंने ससार को धर्म-सन्देश दिया। उससे पूर्व वे निरन्तर मौन तपस्वी बने रहे।

रत्नत्रयी

उन्होने अपने धर्म-सन्देश मे हर व्यक्ति के लिए सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र के रूप मे रत्नत्रयी की आवश्यकता बतलायी। साधना-मार्ग मे प्रविष्ट होने के लिए सर्वप्रथम सम्यग् दर्शन अर्थात् सम्यक् श्रद्धा की आवश्यकता है। भौतिक पदार्थो से परे आत्मादि तत्त्वो पर श्रद्धा हुए बिना साधना के लिए कोई लक्ष्य निर्धारित नही किया जा सकता। निर्लक्ष्य साधना तो निरुद्देश्य भटकने के समान व्यर्थ का प्रयास मात्र है। कोरी श्रद्धा से भी काम नही चल सकता, अत उन्होने कहा—श्रद्धाशील व्यक्ति को सतत मनन करते रहना चाहिए, जो कि श्रद्धा और विश्वास को सम्यक् ज्ञान और प्रकाश के रूप मे परिणत कर देता है। यहा भी रुकने की आवश्यकता नही है। आगे बढकर अपने ज्ञान को आचरण मे ढालना चाहिए। यही सम्यक् चारित्र है। आचरण-शून्य कोरा शब्द-ज्ञान या सिद्धान्त-ज्ञान त्राता नही हो सकता। साधना के इस मार्ग को उन्होंने ब्राह्मण, शूद्र, स्त्री-पुरुष सभी के लिए समान रूप से मोक्षदायी बतलाया।

महाव्रत अणुव्रत

उन्होने सदाचरण के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाच व्रतो की प्ररूपणा की। सन्यस्त जीवन बिताने वाला इन्हे अखण्ड रूप से स्वीकार करता है तब ये महाव्रत कहलाते है और गृहस्थ जीवन बिताने वाला इन्हें क्रमिक विकास की भावना से यथाशक्य ग्रहण करता है, तब अणुव्रत।

पाचो व्रतो का मूल उन्होने अहिंसा को बतलाया। अहिंसा की भावना मन मे प्रतिष्ठित नही हो जाती, तब तक अन्य किसी भी व्रत की निष्ठापूर्ण साधना असम्भव है। उन्होंने बतलाया कि अहिंसा का अर्थ प्राणिवध-वर्जन मात्र ही नही है, अपितु वह प्राणिमात्र को आत्मोपम्य मानने से भी सम्बद्ध है। उसका फलित होता है—विश्वप्रेम। सूक्ष्मता की दृष्टि से कहा जाए, तो अहिंसा का सम्बन्ध अन्य प्राणियो की अपेक्षा स्वय से अधिक है, अत अपनी दूषित प्रवृत्ति और दूषित चिन्तन भी हिंसा मे समाविष्ट है इसीलिए पूर्ण अहिंसा की साधना के स्तर पर शेष सभी व्रतो का उसमे समावेश हो जाता है।

अहिंसा

भगवान् महावीर ने अहिंसा को प्रथम धर्म इसलिए भी कहा कि उसमे समाज की

तत्कालीन समस्याओ का समाधान निहित था। वे जानते थे कि अहिंसा की भावना पनपेगी तो आत्म-तुल्यता के आधार पर पशु-पक्षियो के प्रति दया की भावना जागेगी। उससे यज्ञ तथा रस-लोलुपता के लिए किया जाने वाला पशुवध वन्द होगा। इसी प्रकार दास-प्रथा, अस्पृश्यता और स्त्री-लघुता की भावनाए भी मिटेंगी। यद्यपि युग-प्रवाह हिंसा का समर्थक था, परन्तु उन्होने निर्भीकतापूर्वक अपने विचार रखे और उस प्रवाह को वदलने मे सफल हुए। आज भारत की कोटि-कोटि जनता के मन मे अहिंसा के प्रति जो अनुराग है, उसमे भगवान् महावीर के उस उपदेश का परिपूर्ण प्रभाव है।

अनेकान्त

मनुष्य अपनी क्रियाओ के द्वारा तो हिंसा मे प्रवृत्त होता ही है, पर विचारो से भी होता है, अत विचार जगत् मे अहिंसा के प्रवेशार्थ उन्होने अनेकान्तवाद का निरूपण किया। उन्होने कहा—हर पदार्थ या तत्त्व को अनेक दृष्टियो से देखो। एकान्त दृष्टि से देखने पर उसके साथ न्याय नही हो सकता। प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलू होते है, अत हमारी दृष्टि भी उन सव पहलुओ को समन्वित रूप से देखकर निर्णय करने वाली होनी चाहिए। किसी एक ही पक्ष का आग्रहपूर्ण पोपण अहिंसावादी के लिए उपयुक्त नही। अनेकान्तवादी होकर ही वैचारिक क्षेत्र मे अहिंसा की पालना की जा सकती है।

प्रासगिक है आज भी

भगवान् महावीर के युग से लेकर अद्यतन युग तक विचारो व व्यवहारो मे वहुत-वहुत परिवर्तन आये है। वहुत-सी प्राचीन मान्यताएं व धारणाए विलुप्तप्राय हो चुकी हे। सामाजिक तथा सैद्धान्तिक क्षेत्र मे भी अनेक नये मोड आ चुके है, फिर भी भगवान् महावीर ने अहिसा और अनेकान्त के अपने महान् सिद्धान्तो द्वारा जिस दृष्टिकोण का निरूपण किया, उसकी आज भी उतनी ही आवश्यकता है।

अहिंसावतार भगवान् महावीर की निर्वाण-जयन्ती के इस अवसर पर उनके श्रीचरणो मे हम तभी श्रद्धाजलि अर्पित करने के अधिकारी हो सकते ह, जवकि उनके उपदेशो को जीवन मे स्थान दे पाये और विश्व-प्रेम तथा समन्वयी दृष्टिकोण को आगे वढा पाये।

अहिसक क्रान्ति के पुरोधा : भगवान् महावीर

वर्द्धमान से महावीर

भगवान् महावीर भारत के उन नर-रत्नो मे से एक थे, जिनके व्यक्तित्व का प्रभाव युगो-युगो तक जीवित रहता है और मानव जाति के प्रगति-मार्ग पर प्रकाश फैलाता है। अपने लिए जीने वालो की संसार मे कोई कमी नही है, परन्तु अपने जीवन को सबके लिए समर्पित कर डालने वालो की सख्या तो अगुलियो पर गिनने योग्य ही पायी जाती है। भगवान् महावीर उन अगुलिगण्य व्यक्तियो की अग्रसख्या मे थे। मनुष्य अपने कर्तव्य के बल पर भगवान् वन जाता है—इस सत्य के वे एक सजीव उदाहरण थे।

उनका जन्म ई० पू० सन् ५९९ मे चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन हुआ। ज्ञातृवशी राजा सिद्धार्थ उनके पिता और विदेह जनपद की राजकुमारी त्रिशला उनकी माता थी। विहार प्रदेश के अतर्गत क्षत्रिय कुडनगर उनका जन्म-स्थान था। उनके जन्म के साथ ही राज्य मे धन-धान्य और आनद की प्रचुर वृद्धि हुई, अत माता-पिता ने उनका गुणानुरूप नाम वर्द्धमान रखा। वाद मे वे 'महावीर' नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए। यह नाम उनकी निर्भयता, वलवत्ता और सहिष्णुता की पराकाष्ठा देखकर जनता द्वारा दिया गया। वस्तुत उनका समग्र जीवन उस वीरता की ही एक कहानी था, जिसमे क्रूरता या पर-पीडन के लिए नाममात्र को भी स्थान नही था।

वह युग

महावीर जिस वश मे उत्पन्न हुए थे, उनमे स्वावलम्वन, स्वतंत्रता और समानता को वहुत महत्त्व प्राप्त था, अत. प्रारम्भ से उनकी वृत्ति इन गुणो से अनुप्राणित रही। आगे चलकर ये ही वीज आध्यात्मिकता की भूमि पर अकुरित हुए और समग्र प्राणियो के लिए शुभफलदायी वने।

तीस वर्प तक वे घर मे रहे। यौवन, सम्पत्ति और सत्ता की प्रचुरता चारो

ओर विखरी हुई थी, फिर भी उनके मन मे उन सवके प्रति कोई आकर्षण नही था। वे तत्कालीन मानव-समाज मे व्याप्त धार्मिक, नैतिक और सामाजिक कुठाओ के निराकरण की वात सोचते रहे। ज्यो-ज्यो वे इस विषय के चिंतन की गहराइयो मे उतरते गए, त्यो-त्यो अधिकाधिक स्पष्टता के साथ यह अनुभव करने लगे कि जीवन के प्रति जनता के सोचने के प्रकार मे आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता है। उन्होने उस समय की समस्याओ का समाधान सुधार मे नही, किन्तु विचार क्रान्ति मे ही सभव पाया।

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व के युग को अपनी कल्पना की रील पर उतार कर जरा ध्यान से देखिए। कैसा था वह युग, कितनी रूढ परम्पराओ और दभो से घिर गया था उस समय का मानव जीवन? पर्वत की चोटी से फिसले हिम-खड की तरह सारा समाज ही वडी तेजी से नीचे की ओर लुढकता जा रहा था। वचाव असभव लग रहा था, विनाश सुनिश्चित। उस समाज को विनाश की ओर जाने से कौन रोक सकता है, जिसने जातिगत श्रेष्ठता और हीनता के विचारो की कल्पनात्मक दीवार खडी करके मनुष्य-मनुष्य मे परस्पर अलगाव उत्पन्न कर दिए हो। धर्म के नाम पर सख्यातीत मूक पशुओ की वलि चढाने को मान्यता प्रदान की हो, धर्म विषयक अधिकार जाति विशेष के लिए ही सुरक्षित कर दिए हो और मातृजाति को ज्ञान के अधिकार से सर्वथा वचित कर दिया हो।

महान् निर्ग्रंथ

भगवान् महावीर ने तत्कालीन भारतीय समाज की सभी समस्याओ पर विचार किया और उनके उद्गम को खोज निकाला। उन्होने पाया कि सभी समस्याए मानव-हृदय मे व्याप्त होती है। जब तक एतद् विषयक अज्ञान दूर नही कर दिया जाता, तब तक किसी भी समस्या का समुचित समाधान हो नही सकता। वस्तु-स्थिति जान लेने के पश्चात् अज्ञान-मूलक रूढ़ियो का अत स्वत ही सभव हो जाता है। इसीलिए उन्होने अपने अन्तर्दर्शन मे ज्ञान को अनिवार्य वतलाया और उसी के प्रकाश मे की जाने वाली क्रियाओ को महान् फलदायिनी वताया। अज्ञान या मिथ्यात्व को उन्होने भव-भ्रमण का मूल हेतु माना।

दूसरो को मार्ग वतलाने से पूर्व वे स्वय चरम सीमा तक उसका निरीक्षण कर लेना आवश्यक समझते थे, इसीलिए ३० वर्ष की पूर्ण युवावस्था मे ही उन्होने सभी प्रकार के सहज प्राप्त इन्द्रिय-सुखो को ठोकर मार दी और आत्म-विजय के मार्ग पर निर्भय होकर एकाकी ही आगे वढ चले। वे आभ्यन्तर और वाह्यरूप से सभी प्रकार की ग्रथियो से मुक्त होकर निर्ग्रंथ वन गए। निर्ग्रंथ वनने के साथ ही उन्होने जो प्राथमिक प्रतिज्ञाए की, उनमे से कुछ निम्नोक्त है—

१ आज से मैं समस्त पापाचरणो से निवृत्त होता हू। मन, वचन और

काया से न मैं कोई सपाप आचरण करूगा, न किसी से ऐसा आचरण करवाऊगा और न किसी के ऐसे आचरण का अनुमोदन करूगा।

२ आज से मै व्युत्सृष्टकाय त्यक्त-देह होकर विहार करूगा। काया के बचाव को महत्त्व नही दूगा, लक्ष्य सिद्धि के लिए उसे भी होम देने को तैयार रहूगा।

३ किसी के द्वारा दिए गए अथवा सहज उत्पन्न कष्टो को समभाव से सहूगा। उनकी निवृत्ति के लिए किसी की सहायता स्वीकार नही करूगा।

४ राग और द्वेष के बधन से दूर रहकर वीतराग भाव की आराधना करूगा।

उपर्युक्त प्रतिज्ञाओ के साथ ही महावीर का साधना काल प्रारम्भ हुआ। यह काल लगभग साढे बारह वर्ष तक निरन्तर चलता रहा। इसमे वे बहुधा मौन, एकातवास, अभय, तपश्चर्या और तत्त्व चिंतन मे लीन रहे। फलस्वरूप उन्हे मन, वचन और तन की पूर्ण निर्दोषता प्राप्त हुई और वे वीतराग बन गए। उसी समय उन्हे कैवल्य की भी प्राप्ति हुई। जिस प्रकार शिव ने काम को भस्म किया था, बुद्ध ने मार पर विजय पायी थी, उसी प्रकार महावीर ने मोह का विनाश किया और वे आत्मजयी बने।

साधना की पूर्णता के पश्चात् उन्होने धर्मोपदेश दिया और जनता को कल्याण का मार्ग बतलाया। सन्यस्तो के लिए महाव्रत तथा गृहस्थो के लिए अणुव्रत धर्म की साधना को उन्होने आवश्यक बतलाया। उनके उपदेशो का ऐसा अचूक प्रभाव हुआ कि महान् यज्ञकर्मी इन्द्रभूति आदि अनेक विद्वान् व अभिमानी ब्राह्मणो, स्कदक आदि अनेक तापसो, उदयन आदि अनेक प्रभावशाली राजाओ तथा वैश्य, कुम्हार, कृषक और शूद्र कही जाने वाली जातियो तक ने उनकी शिष्यता स्वीकार की।

भगवान् महावीर ने समाज मे जाति या वर्ण के आधार पर खडे किये गए वैषम्य का बडी प्रबलता से खडन किया। उन्होने कहा—सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक है। उसमे उच्चावचता का भेद डालना भयकर अपराध है। जातीय-विशेष मे उत्पन्न होने मात्र से कोई पूजनीय नही बन जाता, पूजनीय तो गुणोत्कर्ष से बनता है।

उन्होने मनुष्य मात्र के लिए धर्मपालन मे समान अधिकार की घोषणा की। अहिसा को परम धर्म बताते हुए उन्होने कहा—यज्ञार्थ की जाने वाली पशुबलि अज्ञान का प्रतिफल है। उनका यह उपदेश युगवाणी बनकर जनता के हृदय मे समाता चला गया।

आत्म-विजय

भगवान् महावीर द्वारा बतलाए गए मार्ग को यदि किसी एक ही शब्द मे व्यक्त करना हो तो वह शब्द होगा—'आत्म-विजय'। इसके बिना किसी भी साधक की

साधना पूर्ण नही हो सकती। आत्म-विजय पर उन्होने कितना बल दिया, यह उनके निम्नोक्त उद्‌गारो से स्पष्ट हो जाता है—

१ वास्तविक विजेता वह नही है, जो भयकर युद्ध मे लाखो मनुष्यो पर विजय पा लेता है, किन्तु वह है जो अपने आप पर विजय पा लेता है।

२ यदि तुम्हे युद्ध ही प्रिय है, तो वाहर के इन तुच्छ युद्धो को छोडकर अपने आप से युद्ध करो। आत्मजयी ही इस लोक तथा परलोक मे सुखी होता है।

३ तुम स्वय ही अपने शत्रु तथा मित्र हो। उन्हे वाहर खोजना व्यर्थ है।

४ स्वय ही स्वय को देखो और निर्णय करो कि तुमने क्या किया है तथा क्या करना चाहिए।

अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त

भगवान् महावीर ने अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त पर विशेष वल दिया। अहिंसा से उनका तात्पर्य किसी प्राणी की हत्या से वचने तक ही सीमित नही था, किन्तु बुरे चिंतन को भी उन्होने हिंसा माना और उससे वचना आवश्यक बतलाया। अपरिग्रह से भी उनका तात्पर्य अर्थ-सग्रह न करने मात्र से न होकर यह था कि वस्तु के प्रति ममत्व-बुद्धि का विसर्जन ही अपरिग्रह है। ममत्व मिटे विना सग्रह-वुद्धि मिट नही पाती। अनेकान्त से उनका तात्पर्य था—किसी भी तत्त्व या पदार्थ को एकात दृष्टि से देखने पर उसके साथ न्याय नही किया जा सकता। प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलू होते है, अत हमारी दृष्टि भी उन सभी पहलुओ को समन्वित रूप मे देखकर निर्णय करने वाली होनी चाहिए। अन्यथा हम किसी एक ही पक्ष का आग्रह-पूर्ण पोपण करते हुए असत्य के पोपक वन सकते हैं।

अहिंसा का सिद्धात कलहो और युद्धो मे आसक्त मानव-जाति को शाति का वरदान दे सकता है। अपरिग्रह का व्यवहार सामाजिक जीवन की विपमताओ और शोपण के विपरीत समता की स्थापना मे सहयोगी हो सकता है। उसी प्रकार अनेकान्त का प्रयोग, वस्तु, व्यक्ति और विचारो के प्रति हमे सहनशील तथा गवेपी वनकर न्यायवादी वनने की प्रेरणा देता है।

महावीर के उपदेश वर्तमान युग

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व उन्होने जो सिद्धात मानव जाति के सम्मुख रखे थे, उनका उपयोग आज भी उतना ही आवश्यक जान पडता है, जितना कि उस युग मे था। आज तो कही अधिक हिंसा, अर्थ-सग्रह और पक्ष-प्रावल्य चल रहा है। विनाशकारी अस्त्रो के निर्माण ने मानव-सभ्यता को विनाश के कगार पर ला खडा किया है। व्यक्ति से व्यक्ति का शोपण आगे वढकर राष्ट्र मे राष्ट्र का शोपण वन गया है। विश्व अनेक शिविरो मे विभक्त हो गया है और प्रत्येक शिविर का नेता

अपने ही विचार को पूर्ण सत्य मानकर अन्य को भी मनवाने का आग्रही बना हुआ है। अपने विरोधी राष्ट्र का मान-मर्दन करने के लिए दूसरे राष्ट्र वहा आतकवाद को प्रश्रय देकर आतक फैलाने तथा उसे विघटित करने का प्रयास कर रहे है। हीनता ग्रथि से पीडित अनेक आतकवादी सगठन निरपराध नागरिको की हत्या कर स्वय को कृतकृत्य मान रहे है। धर्म, भाषा और मतवाद आदि के नाम पर अनेक सगठन पारस्परिक विवाद मे खम ठोककर एक-दूसरे को पराजित करने पर तुले हुए है। ऐसी स्थिति मे भगवान महावीर के ये अहिसा, मैत्री, समता एव सहिष्णुता के उपदेश और भी अधिक आवश्यक तथा सामयिक हो गए है।

दर्पण एक : हजारों चेहरे

आचार्यभिक्षु का समस्त जीवन उस पवित्र पुस्तक के समान था, जिसके प्रत्येक पृष्ठ की प्रत्येक पक्ति प्रेरणादायक होती है। सार्थक व सोद्देश्य शब्द-सयोजन, निर्भीक व निर्लिप्त अभिव्यक्ति और साद्यन्त सत्य-प्रतिबद्धता, ये उस पुस्तक की पवित्रता के साक्ष्य है। जिसने भी उसे पढा, नयी स्फूर्ति से भर गया। सहस्रो-सहस्रो व्यक्ति उनके सम्पर्क मे आते रहते थे, उनमे अनुकूल और प्रतिकूल—दोनो ही प्रकार के होते थे, परन्तु उनसे प्रभावित हुए विना शायद ही कोई बच पाता था।

नदी के प्रवाह की तरह निरन्तर गतिशील स्वामीजी की सयम-यात्रा की प्रत्येक लहर न जाने कितने व्यक्तियो की पिपासा शान्त कर गई, कितनो के उत्ताप का हरण कर गई और कितनो की सूखती हुई खेतिया लहलहा गई। साथ मे यह भी सत्य है कि न जाने वह कितने अवरोधो को ढहाकर अपने साथ वहा ले गई।

जन-कल्याण के उद्देश्य से किया गया स्वामीजी का जन-सम्पर्क रत्नत्रयी की वृद्धि करने मे अत्यन्त सफल रहा। सम्पर्क विषयक विचित्र घटनाए इक्षु के छोटे-छोटे पोरो की तरह अत्यन्त सरस और सुमधुर तो है ही, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से वलदायक भी है।

स्वामीजी का जीवन-पट घटनाओ के ही ताने-वाने से वुना हुआ था, इसलिए कहा जा सकता है कि उन्हे घटनाओ के माध्यम से जितनी सरलता से समझा जा सकता है, उतनी सरलता से अन्य किसी माध्यम से नही। प्रत्येक घटना उनके विविधागी जीवन के किसी-न-किसी नये पहलू की अवगति प्रदान करती है। हीरे के पहलुओ के समान सभी घटनाओ का अपना-अपना पृथक् सौन्दर्य और पृथक् कटाव-छटाव है। फिर भी सम्पूर्ण जीवन-सौन्दर्य के साथ उनका अविकल सामजस्य वना हुआ है।

वुराई मे भी भलाई की खोज

ससार मे ऐसे व्यक्ति वहुत कम मिलेगे, जो अपने कानो से अपनी निंदा सुनकर भी उत्तेजित न हो। स्वामीजी मे यह विशेषता इतनी उत्कृष्ट थी कि वे अपनी निंदा

को हसते हुए सुन ही नही लेते थे, किन्तु अपने ही हाथो से उन वातो को लिख भी लेते थे। उनके हाथ से लिखे हुए ऐसे अनेक पत्र आज भी सुरक्षित है, जिन पर उनके तथाकथित अवगुण लिखे हुए हैं।

उनके जीवन मे ऐसे अवसर अनेक वार आये, जव स्वय उन्ही के सामने तथा अगल-वगल के स्थानो पर विरोधी लोग उनके विरुद्ध प्रचार करने लगे और वे चुपचाप सुनते रहे। स्वामीजी अपने विरोधियो द्वारा किये गये किसी भी कार्य को प्राय गुण रूप मे लेने का ही प्रयास किया करते थे। कहा जा सकता है कि वे अनन्य रूप से गुणग्राही व्यक्ति थे। गुण को ग्रहण करना और मानना एक वात है, पर किसी के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निंदा किये जाने पर भी उसमे कही-न-कही गुण को खोज निकालने का प्रयास करना विलकुल दूसरी वात है। यह तो किसी महापुरुष का ही कार्य हो सकता है। स्वामीजी निस्सदेह ऐसे ही व्यक्तियो मे से थे, जो बुराई मे भी भलाई खोज लेते हैं।

अवगुण निकालने ही है

किसी ने आकर स्वामीजी को वतलाया कि अमुक स्थान पर लोग एकत्रित हो रहे है और वहा अमुक व्यक्ति आपके अवगुण निकाल रहा है।

स्वामीजी वोले—'निकाल ही रहा है, डाल तो नही रहा? यह तो वहुत अच्छी वात है। मुझे अवगुण निकालने ही हैं। कुछ मैं निकालूगा, कुछ वह निकालेगा, चलो, इस प्रकार वे और भी शीघ्र निकल जाएगे।'

ठोक-वजाकर देखता है

एक वार चर्चा मे पराजित होकर एक भाई नेअ विशवश स्वामीजी की छाती पर मुक्का मारा और चल दिया। साधुओ को वह वहुत वुरा लगा। उन्होने स्वामीजी से प्रार्थना की कि ऐसे अयोग्य व्यक्तियो से चर्चा करने मे कोई लाभ नही है।

स्वामीजी ने मुस्कराते हुए कहा—'जव कोई मनुष्य दो-चार पैसे मूल्य की मिट्टी की हाडिया खरीदता है, तव पहले उसे ठोक-वजाकर देख लेता है कि कही फूटी हुई तो नही है? यहा तो फिर जीवन भर के लिए गुरुधारणा करने की वात है, अत यह वेचारा ठोक-वजाकर देख लेना चाहे, तो अनुचित क्या है?'

साधु कौन और ढोगी कौन?

किसी व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा—'ससार मे साधु का वेश पहनने वालो की सख्या वहुत है। उनमे सच्चे कौन है और ढोगी कौन?'

स्वामीजी ने कहा—'किसी वैद्य से एक अचक्षु व्यक्ति ने पूछा—इस नगर मे नगे कितने है और सवस्त्र कितने? वैद्य ने कहा—उनकी गिनती करना मेरा काम

नही है। मैं औषधि के द्वारा तुम्हारी दृष्टि ठीक कर देता हू, फिर तुम स्वय गिन लेना। इसी प्रकार व्यक्तिश. किसी के विषय मे कुछ कहना मेरे लिए उचित नही। मैं साधु के लक्षण बतलाकर तुम्हे दृष्टि प्रदान कर सकता हू, फिर साधु और असाधु के विषय मे जाच तुम स्वय कर लेना।

पूर्वजो का अस्तित्व

एक बार केलवा के ठाकुर मोखमसिंहजी ने स्वामीजी से पूछा—'आप आगम सुनाते है, उसमे भूत और भविष्य सम्बन्धी अनेक घटनाए आती है, परन्तु उन्हे किसी ने देखा नही है, अत वे सत्य है या नही, इसका निर्णय कैसे हो ?'

स्वामीजी ने कहा—'तुम अपने पूर्वजो के नाम तथा उनके जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनाए जानते हो, परन्तु उनको तुमने देखा नही है, तब उनकी सत्यता पर कैसे विश्वास करते हो ?'

ठाकुर बोले—'पूर्वजो के नाम तथा उनकी जीवनिया भाटो की पुस्तको मे लिखी हुई है, उन्ही के आधार पर हम जानते है।'

स्वामीजी ने कहा—'भाटो के असत्य बोलने तथा लिखने का त्याग नही है, फिर भी उनकी लिखी घटनाओ को सत्य मानते हो, तब ज्ञानियो द्वारा प्ररूपित शास्त्रो को सत्य मानने मे कोई कठिनाई नही होनी चाहिए।'

ठाकुर बडे प्रसन्न हुए और कहने लगे—'प्रश्नो का ऐसा प्रभावशाली उत्तर देने वाला अन्य कोई व्यक्ति मैंने नही देखा।'

छह महीने बचे

वि० स० १८५३ मे स्वामीजी माढा पधारे। वहा गृहस्थावस्था मे हेमजी ने सिरियारी से आकर दर्शन किये। दूसरे दिन प्रात स्वामीजी ने कुशलपुर की ओर विहार किया तथा हेमजी नीमली के मार्ग मे सिरियारी की ओर चल दिये। मार्ग मे स्वामीजी को अच्छे शकुन नही हुए, अत वे भी मार्ग को छोडकर नीमली की ओर ही आ गये। हेमजी की गति मन्द थी और स्वामीजी की तेज, अत पीछे से चलने पर वे उनसे आ मिले। स्वामीजी ने आवाज देते हुए कहा—'हेमडा ! हम भी इधर ही आ रहे है।'

हेमजी ने स्वामीजी को देखा, तो ठहरकर वन्दन किया और पूछा—'आपने तो कुशलपुर की ओर विहार किया था, फिर इधर कैसे ?'

स्वामीजी ने कहा—'यही समझ ले कि आज तेरे लिए ही आये है।'

हेमजी ने कहा—'बडी कृपा की।'

स्वामीजी बोले—'तू लगभग तीन वर्ष से कह रहा है कि मेरी दीक्षा लेने की

भावना है, पर अब अपना निश्चित निर्णय बतला कि मेरे जीते जी लेगा या मरने के पश्चात् ?'

स्वामीजी की उक्त बात हेमजी के हृदय मे चोट कर गयी। वे खिन्न होकर बोले—'आप ऐसी बात क्यो कहते हे ? मेरे कथन की सत्यता मे आपको शका हो तो नौ वर्ष के पश्चात् अब्रह्मचर्य का त्याग करा दें।'

स्वामीजी ने त्याग करवा दिये और कहा—'लगता है विवाह करने की इच्छा से तूने ये नौ वर्ष रखे हे। परन्तु तुझे यह समझ लेना चाहिए कि लगभग एक वर्ष विवाह होते-होते लग जायेगा। विवाह के पश्चात् यहा प्रथा के अनुसार एक वर्ष तक स्त्री पीहर मे रहेगी। इस प्रकार तेरे पास सात वर्ष का समय रहा। उसमे भी दिन के अब्रह्मचर्य का तुझे परित्याग है, अत साढ़े तीन वर्ष ही रहे। इसके अतिरिक्त तुझे पाचो तिथियो के भी त्याग है। उन दिनो को बाद देने पर शेष दो वर्ष और चार महीने का समय ही बचता है। उन अवशिष्ट दिनो मे भी सारा समय भोग-कार्य मे नही लगता। प्रतिदिन घडी भर का समय गिना जाये, तो लगभग छह महीने का समय होता है। अब सोच कि केवल छह मास के भोग के लिए नौ वर्ष का सयम खो देना कौन-सी बुद्धिमत्ता है ? यदि एक-दो सतान हो जाए, तब फिर व्यक्ति उनके मोह मे उलझ जाता है। उस स्थिति मे सयम-ग्रहण करना कठिन हो जाता है।' स्वामीजी के उक्त लेखे-जोखे ने हेमजी की सयम-भावना को उद्दीप्त कर दिया और उन्होने उसी समय पूर्ण ब्रह्मचर्य स्वीकार कर लिया। कुछ दिनो के अनन्तर तो वे प्रव्रजित ही हो गये।

अमृतमयी प्रेरणा के सूत्रधार

आचार्य भिक्षु अध्यात्म-प्रेरणा के एक महान् स्रोत थे। उनका प्रत्येक कार्य व्यक्ति के अध्यात्म-भाव को जागृत करने वाला होता था। उनके मुख से नि सृत वाणी का निर्झर व्यक्ति के हृदय को विराग भाव से सिञ्चित कर जाता था। जो उनके सपर्क मे आता, वह मोह से अमोह की ओर, प्रमाद से अप्रमाद की ओर तथा अज्ञान से ज्ञान की ओर आगे बढने की अमृतमयी प्रेरणा प्राप्त करता था।

रूपाजी की चिता छोड

वि० स० १८५५ का चातुर्मास स्वामीजी ने पाली मे किया। वहा मुनि खेतसीजी अचानक रुग्ण हो गये। वमन और अतिसार ने उनके शरीर को शिथिल बना दिया। रात्रि मे शारीरिक आवश्यकता से वे बाहर गये तो वापस आते समय मार्ग मे ही मूर्च्छित होकर गिर पडे। धमाका सुनकर स्वामीजी जाग पडे। उन्होने मुनि हेमराजजी को जगाया। दोनो ने मिलकर मार्ग मे मूच्छित पडे मुनि खेतसीजी को उठाया और बिछौने पर लाकर लिटाया। उनकी शारीरिक दशा देखकर स्वामीजी

ने मुनि हेमराजजी से कहा—देख, ससार की माया कितनी कच्ची है ? खेतसीजी जैसा प्रबल व्यक्ति एक ही दिन मे इतना निर्बल हो गया । वे उनके पास बैठकर शरण आदि दिलाने लगे । कुछ समय पश्चात् उनकी मूर्च्छा टूटी, तब स्वामीजी से कहने लगे—'आप रूपाजी को पढाने की कृपा करना ।' स्वामीजी ने तत्क्षण टोकते हुए कहा—'रूपाजी की चिन्ता छोड और अपनी चिंता कर । तेरे लिए यह समय समाधि पूर्वक आत्म-चिंतन मे लगने का है। बहन की चिंता करने का नही ।'

मुनि खेतसीजी ने स्वामीजी का कथन शिरोधार्य किया । कुछ दिन पश्चात् वे रोग-मुक्त हो गए ।

न्याय की तुला पर

स्वामीजी एक न्यायप्रिय एव नीति-परायण आचार्य थे । व्यक्तियो का पारस्परिक मनोमालिन्य मिटाकर उनमे सद्भाव उत्पन्न करना उन्हे खूब आता था । पक्षपात सदैव न्याय और नीति का प्रतिपक्ष रहा है । स्वामीजी उसे कभी प्रश्रय नही देते थे । यद्यपि छद्मस्थावस्था के कारण मनुष्य राग और द्वेष से सर्वथा मुक्त नही हो पाता है, फिर भी स्वामीजी जैसे कुछ ऐसे महान् व्यक्ति होते है, जो अपने मानसिक सतुलन को किसी भी स्थिति मे डिगने नही देते । स्वामीजी तर्कों के आधार पर नही, वास्तविकता के आधार पर न्याय किया करते थे ।

अपने सघ के साधु-साध्वियो के लिए तो उन्होने मर्यादा बनाते समय यहा तक लिख दिया कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे चलने, बोलने तथा प्रतिलेखन करने आदि की दैनिक क्रियाओ मे सच्ची तथा झूठी भी त्रुटि निकाले, तो तुम उसका प्रतिवाद मत करो । आगे के लिए उस विषय मे अधिक सावधान रहने का ही विचार व्यक्त करो ।

द्रष्टा ऋषि : आचार्यश्री तुलसी

आनन्द और उल्लास से भरा हुआ वातावरण, प्रगति और उन्नति की आकाक्षाओ से परिपूरित जन-मानस, राष्ट्र-निर्माण के सत् सकल्प से आप्लावित नेतृ-वर्ग और स्वतत्र राष्ट्र के अनुरूप हर क्षेत्र मे आत्म-निर्भरता के लिए श्रम-सातत्य मे उठे हुए जनता-जनार्दन के हाथ—यह बतला रहे थे कि स्वतत्र होने के साथ ही उभर आई कठिनाइयो पर विजय पाकर भारत अब अपनी भावी योजनाओ के अनुकूल प्रगति करने को तैयार है। सचमुच ही उस समय कृषि-विकास से लेकर सामाजिक नव-निर्माण तक के प्रत्येक क्षेत्र मे उच्चतर स्थिति को प्राप्त करने की ओर कदम बढाये जा रहे थे। आशा और उत्साह से भरे ऐसे माहौल मे एक तरुण व्यक्ति जनता और जन-नेताओ को चेता रहा था कि राष्ट्र-निर्माण के इस महायज्ञ मे चरित्र-विकास को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। उसकी मान्यता थी कि चरित्र-विहीन राष्ट्र की सारी प्रगति राख मे डाली गई आहुति के समान व्यर्थ हो जाती है। वह व्यक्ति था उस समय तक स्वल्प ज्ञात किन्तु चिन्तन और कार्य-क्षमता की तेजस्विता से परिपूर्ण आचार्यश्री तुलसी। उनकी उस विचार-धारा से सभी लोग सहमत तो होते, परन्तु उसे कार्य रूप मे परिणति देने का अवकाश किसी के पास नही था। राष्ट्र का प्राय समग्र कौशल और श्रम भौतिक समृद्धि की दौड मे नियोजित हो रहा था।

असाप्रदायिक आदोलन

आचार्यश्री तुलसी ने 'एग एव चरे लाढे' अर्थात् 'अकेले-चलो' भगवान् महावीर के इस उपदेश को मार्ग-दीप बनाया और अपने साधन तथा क्षमता को तोलकर अकेले ही चल पडे। उन्होने २ मार्च १९४९ को अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात किया। सर्वधर्म समादृत छोटे-छोटे व्रतो के द्वारा उन्होने मानव जाति के लिए सदाचार और नैतिकता की प्रेरणा दी। इस असाम्प्रदायिक आन्दोलन की आवाज जन-जन तक पहुची और उससे लाखो लोग प्रभावित एव लाभान्वित हुए।

पदयात्रा जनकल्याण

अणुव्रत-कार्य को गति देने के लिए आचार्यश्री ने अपने विहार-क्षेत्र को विस्तृत किया। भारत के अधिकाश प्रान्तो मे पदयात्रा करते हुए वे लगभग एक लाख किलोमीटर घूम चुके है। वर्तमान मे सत्तर वर्ष की अवस्था मे भी उनकी पदयात्रा यथावत् चालू है। वे जहा भी जाते है वहा हजारो-हजारो व्यक्ति उन्हे सुनने को एकत्रित हो जाते है। ग्रामीणो को वे मद्यपान, धूम्रपान आदि व्यसनो से तथा मृत्यु-भोज, पर्दाप्रथा आदि रूढ धारणाओ से मुक्त करते है। अपमिश्रण, रिश्वत और अस्पृश्यता-निवारण आदि के लिए उनका प्रयास गावो और नगरो—दोनो मे ही चलता है। अणुव्रत-आन्दोलन के अन्तर्गत नये मोड के माध्यम से मेवाड जैसे रूढि-ग्रस्त क्षेत्र मे सामूहिक परिवर्तन का श्रेय आचार्यश्री के इस आन्दोलन को ही दिया जा सकता है।

नारी-जागरण

अपने आचार्य-काल के प्रारभ से ही आचार्यश्री ने नारी-जाति के जागरण हेतु विशेष ध्यान दिया। साध्वियो के अध्ययन पर जहा उन्होने काफी समय और श्रम लगाया वहा महिलाओ को भी रूढि मुक्त एव सादगीपूर्ण जीवन जीने की ओर प्रेरित किया। इसमे उन्हे आशातीत सफलता भी मिली।

साहित्यिक अवदान

आचार्यश्री तुलसी का साहित्यिक क्षेत्र का अवदान भी वहुत विशाल है। गद्य और पद्य—दोनो ही विधाओ मे उनकी लेखनी से प्रचुर साहित्य का सर्जन हुआ है। उनके तत्त्वावधान मे जैन आगमो का सम्पादन उनके उत्तराधिकारी युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ कर रहे है। आधुनिक और असाम्प्रदायिक दृष्टि से सम्पादित इन आगमो का विद्वानो ने हृदय से स्वागत किया है।

आचरण प्रधान धर्म का उद्घोष

आचार्यश्री ने धर्म को केवल क्रियाकाडो या केवल पूजा-विधानो के घेरे से वाहर निकालने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि धर्म जीवन-व्यवहार को वदल देने वाला तत्त्व है। वह आचरण-प्रधान है। वे वहुधा फल का उदाहरण देकर समझाया करते हैं कि क्रियाकाड तो फल के गूदे की सुरक्षा करने वाले छिलके की जगह है। गूदे के स्थान पर तो आचरण ही है। धर्म की वार्तमानिक निस्तेजस्कता मे एक मुख्य कारण वे क्रियाकाडो की प्रमुखता हो जाने को मानते हैं। धर्म को तेजस्वी बनाने के लिए उन्होने उसका अध्यात्म के साथ अनुवधित होना अनिवार्य

माना है। इसीलिए प्रेक्षा-ध्यान-पद्धति का विकास किया गया है। युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ के निर्देशन मे चलने वाले ध्यान-शिविरो ने अल्प समय मे प्रबुद्ध व्यक्तियो को अतिशय प्रभावित किया है।

द्रष्टा . ऋषि

आचार्यश्री तुलसी समन्वय और सामजस्य मे विश्वास करते है। जैनो के विभिन्न सम्प्रदायो के आचार्यों से उनका निकट सम्पर्क है। बहुधा वे ऐसे विन्दु खोजते है जो समीपता उत्पन्न कर सके। जैनेतर धर्मो के आचार्यो तथा विद्वानो से भी वे समन्वयात्मक चिन्तन करते रहते है। उनका विश्वास है कि हर धर्म प्रेम का मार्ग ही दिखा सकता है, झगडे या क्लेश का नही।

आचार्यश्री का जन्म वि० स० १९७१ कार्तिक शुक्ला २ को लाडनू (राजस्थान) मे हुआ। ग्यारह वर्ष की लघुवय मे वे आचार्यश्री कालूगणी के पास दीक्षित हुए। बाईस वर्ष की अवस्था मे आचार्य बने। आज वे अपने ७७वे वर्ष मे प्रवेश कर रहे है। भारत के इस द्रष्टा ऋषि के चरणो मे शत-शत वन्दन।

आचार्यश्री तुलसी : कुशल अध्यापक

आचार्यश्री तुलसी अपने युग के सर्वाधिक चर्चित जैनाचार्य हैं। उनकी क्षमताए असीम है। वे अपनी क्षमताओ का बहुत अच्छा उपयोग करना जानते हैं। इसलिए प्रत्येक क्षेत्र मे सफलता उनकी बाट निहारती मिलती है। उन्होने जितनी लम्बी पदयात्राए की है, आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे जितना जनमानस को झकझोरा है तथा किसान से लेकर राष्ट्र के सर्वोच्च व्यक्तियो तक को जितना प्रभावित किया है, उतना किसी भी धर्म के अन्य किसी भी धर्माचार्य ने शायद ही किया हो। जीवन के आठवे दशक मे भी वे इतने क्रियाशील है कि युवक भी उनकी बराबरी नही कर सकते। इतने कार्य-क्षेत्रो की जमीन उन्होने तोडी है कि देखकर आश्चर्य होता है। केवल जमीन तोडने तक की ही बात नही है। उन्होने उन सबको जोता है, बोया है और उनसे भरपूर फसले प्राप्त की है।

अविश्रान्त यात्री

आज आचार्यश्री तुलसी एक युगप्रधान आचार्य है, तेरापथ के नवम अधिशास्ता हैं, अणुव्रतो के माध्यम से जनजीवन को नैतिकता के सूत्रदाता है, समाज को रुढिमुक्त बनाने के लिए नये मोड के मत्रदाता है, आगम शोध कार्य के वाचना प्रमुख हैं, प्रेक्षाध्यान पद्धति के प्रेरक एव उद्‌बोधक है, धर्मसघ की चतुर्मुखी प्रगति के लिए निरन्तर सावधान मार्गदर्शक है, लगभग सात सौ साधु-साध्वियो की साधना की व्यवस्था, सरक्षा और विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व वहन करते है, श्रावक-श्राविका वर्ग की प्रत्येक आध्यात्मिक समस्या के समाधान का भार भी उन्ही के कधो पर है। अनेक लोगो की व्यक्तिगत समस्याओ को सुलझाने मे भी उन्हे अपना समय और श्रम लगाना पड़ता है। प्रतिदिन प्रातकालीन धर्म सभा मे लगभग घण्टाभर व्याख्यान देते है। कभी-कभी एक ही दिन मे दो या तीन बार भी व्याख्यान देने होते हैं। वे आजीवन पदयात्री है। पूरे भारतवर्ष को उन्होने अपनी पदयात्राओ से मापा है। आज भी उनकी पदयात्रा चालू है। उसी प्रकार से उनकी लेखनी भी अविश्रान्त चलती रही है। संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी भाषा मे

उद्भूत रहा है, जो श्रीफल की तरह ऊपर से शुष्क या कठोर लगता है परन्तु भीतर से मधुर और-शक्तिदायक गिरी लिये हुए होता है। वे अपने छात्रो को कभी विशेष उपालम्भ नही दिया करते थे। डाट-डपट करते रहने मे भी उन्हे कोई विश्वास नही था, फिर भी न जाने कौन-सा गुरुत्वाकर्षण था कि कोई भी शैक्ष उनके नियत्रण से बाहर नही जा सकता था। चर्या से लेकर अध्ययन तक का प्रत्येक कार्य उनकी अनुज्ञा से ही होता था। वे अपने विद्यार्थी साधुओ के खान-पान, सोने-बैठने से लेकर छोटे से छोटे कार्य को भी सुव्यवस्थित रखने की चिन्ता रखते थे। विद्यार्थी साधु भी उन्हे केवल अपना अध्यापक ही नही, किन्तु सरक्षक, माता-पिता तथा सब कुछ मानते थे। शैक्ष साधुओ को कही इधर-उधर न भटकने देना, एक के पश्चात् एक काम मे उनका मन लगाये रखना, अपनी सयत-वृत्तियो के प्रत्यक्ष उदाहरण से उनकी वृत्तियो को सयतता की ओर प्रेरित करते रहना, इन सबको वे अध्ययन-कार्य का ही अग मानते रहे है।

अपना ही काम है

आचार्यश्री ने अध्यापन कार्य को परोपकार की दृष्टि से नही, किन्तु कर्त्तव्य की दृष्टि से किया है। जब वे स्वय छात्र थे और निरन्तर अध्ययनरत रहा करते थे, तब भी अपने अध्ययन-कार्य मे जैसी उनकी तत्परता थी, वैसी ही शैक्ष साधुओ के अध्यापन-कार्य मे भी थी। उस कार्य को भी वे सदा अपना ही कार्य समझकर किया करते थे। दूसरो को अपनाने की और दूसरो को अपना स्वत्व सौपने की उनमे भारी क्षमता थी। इसीलिए दूसरे भी उनको अपना मानते और निश्चिन्त भाव से अपना स्वत्व सौप दिया करते थे। साधु समुदाय मे विद्या का अधिक से अधिक प्रसार हो, यह आचार्यश्री कालूगणी का दृष्टिकोण था। उसी को अपना ध्येय बनाकर वे चलने लगे। मुनिश्री चम्पालालजी (भाईजी महाराज) कई बार उनको टोकते हुए कहते—"तू दूसरो-ही-दूसरो पर इतना समय लगाता है, अपनी भी कोई चिन्ता है तुझे ?"

इसके उत्तर मे वे कहते—"दूसरे कौन ? यह भी तो अपना ही काम है।" उस समय के इस उदारतापूर्ण उत्तर के प्रकाश मे जब हम वर्तमान को देखते है तो लगता है कि सचमुच वे उस समय अपना ही काम कर रहे थे। उस समय जिस प्रगति की नीव उन्होने डाली थी, वही तो आज प्रतिफलित होकर सामने आ रही है। समस्त सघ की सामूहिक प्रगति आज आचार्यश्री की व्यक्तिगत प्रगति बन गयी है।

कोमल भी, कठोर भी

जिन विद्यार्थियो को उनके सान्निध्य मे रहकर विद्यार्जन का सौभाग्य प्राप्त हुआ

था, उनमे से एक मैं भी हू। हम छात्रो मे उनके प्रति जितना स्नेह था उतना ही भय भी था। वे हमारे लिए जितने कोमल थे, उतने ही कठोर भी। जिस विद्यार्थी मे अपने अध्यापक के प्रति भय न होकर कोरा स्नेह ही होता है, वह अनुशासनहीन बन जाता है। इसी तरह जिसमे स्नेह न होकर कोरा भय ही होता है, वह श्रद्धाहीन बन जाता है। सफलता उन दोनो के सम्मिलन मे है। हम लोगो मे उनके प्रति स्नेह से उद्भूत भय था। हमारे लिए उनकी कमान जैसी तनी हुई वक्रीभूत भौहो का भय कितना सुरक्षा का हेतु था, यह उन दिनो जितना नही समझते थे, उतना आज समझ रहे है।

उत्साह-दान

विद्यार्थियो का अध्ययन मे उत्साह बनाये रखना भी अध्यापक की एक कुशलता होती है। एक शैक्ष के लिए उचित अवसर पर दिया गया उत्साह-दान जीवन-दान के समान ही मूल्यवान् होता है। अपनी अध्यापक अवस्था मे आचार्यश्री ने अनेक मे उत्साह जागृत किया तथा अनेक के उत्साह को बढाया था। मैं इसके लिए अपनी ही बाल्यावस्था का एक उदाहरण देना चाहूगा। जब हमने 'अभिधान चिन्तामणि कोश' (नाममाला) कण्ठस्थ करना प्रारम्भ किया, तब कुछ दिन तक दो श्लोक कण्ठस्थ करना भी भारी लगता था। मूल बात यह थी कि सस्कृत के कठिन उच्चारण और नीरस पदो ने हमको उबा दिया था। उन्होने हमारी अन्यमनस्कता को तत्काल भाप लिया और आगे से प्रतिदिन आध घण्टा हमे अपने साथ उसके श्लोक रटाने लगे, साथ ही अर्थ बताने लगे। उसका प्रभाव यह हुआ कि हमारे लिए कठिन पडने वाले उच्चारण सहज हो गये, नीरसता मे कमी लगने लगी। थोड़े दिनो पश्चात् हम उसी कोश के छत्तीस-छत्तीस श्लोक कण्ठस्थ करने लग गये। मैं मानता हू कि यह उनकी कुशलता से ही सम्भव हो सका अन्यथा हम उस अध्ययन को कभी का छोड चुके होते।

जो अध्यापक अपने विद्यार्थियो की दुविधा को समझता है और उसे दूर करने का मार्ग खोजता है वह अवश्य ही अपने शिष्यो की श्रद्धा का पात्र बनता है। उनकी प्रियता के जहा और अनेक कारण थे, वहा यह सबसे अधिक बडा कारण था। आज भी उनकी प्रकृति मे यह बात देखी जा सकती है। विद्यार्थियो की अध्ययन-गत असुविधाओ को मिटाने मे आज भी वे उतना ही रस लेते हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि उस समय उनका कार्य-क्षेत्र कुछ छात्रो तक ही सीमित था, पर आज वह समूचे सघ मे व्याप्त हो गया है।

साध्वी समाज में विद्या-विकास

आचार्यश्री ने अपने मुनिकाल मे अध्यापन कार्य किया, यह कोई आश्चर्य की बात

नही थी, परन्तु उन्होने आचार्य बनने के पश्चात् भी उस कार्य को चालू रखा। साध्वी-समाज मे विद्या का विकास उन्होने आचार्य बनने के पश्चात् ही किया। अपने आचार्य पद की प्रारम्भ कालीन कठिनाइयो से जूझने हुए भी उन्होने साध्वियो को पूरा समय दिया और अध्ययन मे यथासम्भव नैरतर्य बनाये रखा। उसी का यह फल है कि साधुओ के समान ही आज तेरापथ का साध्वी-समाज भी प्रत्येक विषय मे सुदक्ष और कार्यक्षम है।

पाठ्यक्रम का निर्धारण

अनेक वर्षों के अध्यापन-कार्य ने आचार्यश्री को यह अनुभव कराया कि अध्ययन क्षेत्र मे एक व्यवस्थित क्रमिकता की आवश्यकता है। उसके अभाव मे साधारण बुद्धि वाले अनेक विद्यार्थियो का श्रम निष्फल जा रहा था। सम्पूर्ण चद्रिका अथवा कालूकौमुदी कण्ठस्थ कर लेने तथा उसकी साधनिका कर लेने पर भी उनका विकास नही हो पाया था। विद्यार्थियो का श्रम निष्फल न जाए तथा उनके प्रशिक्षण मे त्वरता आये इसलिए एक पाठ्य प्रणाली निर्धारित की गयी। उसका नाम दिया गया—'आध्यात्मिक शिक्षाक्रम।' सात वर्षो के इस शिक्षाक्रम के तीन विभाग है—योग्य, योग्यतर और योग्यतम। अनेक विषयो मे निष्णात बनने के इच्छुक विद्यार्थियो के लिए यह क्रम बडा उपयोगी सिद्ध हुआ। कालान्तर मे इस पाठ्यक्रम मे अनेक आवश्यक परिवर्तन भी किये जाते रहे है।

श्रेयोभागी

आचार्यश्री ने हम लोगो को पढाना प्रारम्भ किया था, तब वे स्वय अध्ययनरत छात्र थे। लगभग १८-१९ वर्ष की उनकी अवस्था थी। आज वे अपनी अवस्था के सतत्तर वसत देख चुके है। एक विश्व-विश्रुत धर्माचार्य बन चुके है। अनेक उत्तरदायित्वो से घिरे हुए है। प्रत्येक क्षण को निचोडकर काम मे लेते रहने पर भी समय की कमी अनुभव करते रहते है। इस स्थिति मे भी उनका अध्यापक आज भी पूर्ववत् जागरूक है। विभिन्न कार्यो के बीच से आज भी वे समय निकालते और बाल साधुओ तथा साध्वियो को विभिन्न विषयो का प्रशिक्षण देते देखे जा सकते हैं।

वे जब पढ़ाते है तो अध्यापन-रस मे सराबोर होकर पढाते है। मूल पाठ को तो वे पूर्णत स्पष्ट करते ही है, साथ ही अनेक शिक्षात्मक बाते भी इसी प्रकार से जोड देते हैं कि पाठ की क्लिष्टता मधुमयता मे बदल जाती है। नव-शिक्षार्थियो को शब्द-रूप और धातु रूप पढाते समय वे जितनी प्रसन्न मुद्रा मे देखे जा सकते है, उतने ही किसी काव्य या दार्शनिक ग्रथ के पाठन मे भी देखे जा सकते हैं। सामान्यत उनकी वह प्रसन्नता ग्रंथ की साधारणता या असाधारणता को लेकर

नही होती, अपितु इसलिए होती है कि वे किसी के विकास मे सहयोग दे रहे है।

तेरापथ का साधु-साध्वी वर्ग आज कार्यक्षम, जागरूक तथा युगभावना को समझने तथा आवश्यकता होने पर उसे नया मोड देने का सामर्थ्य रखने वाला है, उसकी उस क्षमता के उपार्जन का श्रेयोभाग एकमात्र आचार्यश्री को ही जाता है। इसलिए एक अध्यापक के रूप मे आचार्यश्री के जीवन का यह एक अपूर्व कौशल कहा जा सकता है।

उस समय के मुनि नथमल : आज के युवाचार्य महाप्रज्ञ

संस्मरणो की यात्रा

युवाचार्य महाप्रज्ञ तेरापथ धर्मसघ के भावी आचार्य है। वे महाप्राण युग प्रधान आचार्यश्री तुलसी के द्वारा नियुक्त उनके उत्तराधिकारी है। इस नियुक्ति के अभिनन्दन मे 'तुलसी प्रज्ञा' अपना विशेषाक निकाल रही है। मैं युवाचार्य का समवयस्क हू, इससे भी अधिक मै उनका बाल-साथी एव सहपाठी रहा हू, अत उनसे सम्बन्धित कुछ सस्मरण लिखने के लिए मुझे कहा गया है। पिछले अडतालीस वर्षों के निकट सम्पर्क के प्रकाश मे जब मैं अपने जीवन के उतार-चढावो की ओर दृष्टिपात करता हू तब पाता हू कि मस्तिष्क मे खट्टे-मीठे सस्मरणो की एक भीड धक्का-मुक्की करती हुई प्रवेश कर रही है। मैं उन सबको इस समय अपने पाठको के सम्मुख उपस्थित कर सकू—यह सभव नही है, परन्तु कुछ को सम्मुख लाना आवश्यक भी प्रतीत होता है। तो लीजिए, ये उपस्थित है हमारी बाल्यावस्था के कुछ नन्हे-मुन्ने सस्मरण, इनसे मिलिये। परन्तु एक बात का ध्यान रखिये, इनकी यात्रा मेरे बालसखा मुनि नथमल के परिपार्श्व से प्रारम्भ होती है और युवाचार्य महाप्रज्ञ तक पहुचती है, फिर भी मजिल और आगे है, यात्रा चालू है।

बालसखा

हम दोनो जन्मना ढूढाड (तत्कालीन जयपुर राज्य) के है। मुनि नथमलजी का जन्म टमकोर (विष्णुगढ) मे और मेरा पिलानी के समीपस्थ ग्राम लीखवा मे हुआ। मेरा लालन-पालन एव प्रारभिक शिक्षा ननिहाल मे हुई, अत मैं सादुलपुर मे ही रहा और वही का हो गया। मेरा जन्म स० १६७७ आषाढ कृष्णा ३ का है और युवाचार्यजी का आषाढ कृष्णा १३ का। उन्होंने तेरापथ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी से स० १६८७ के माघ मे दीक्षा ग्रहण की और मैंने १६८८ के कार्तिक

मे। प्रशिक्षण के लिए हम दोनो मुनि तुलसी (आचार्य तुलसी) को सौपे गये। समवयस्कता के साथ-साथ तभी से हम दोनो साथी और सहपाठी बन गये। यद्यपि उस समय अन्य भी अनेक वाल-साधु थे, परन्तु हम दोनो की पटरी कुछ ऐसी बैठी कि प्राय. हर क्रिया और प्रतिक्रिया मे हम एक साथ रहते। हमारे नाम भी प्राय सभी के मुख पर समस्तपद की तरह एक साथ रहते थे। पूज्य कालूगणी हमे 'नत्थू-बुद्धू' कहकर पुकारते थे और हमारे अध्यापक मुनि तुलसी 'नथमलजी-बुद्धमलजी' कहा करते थे।

हसने का दण्ड

वाल-चापल्य के कारण हम दोनो हसा वहुत करते थे। सकारण तो कोई भी हंस लेता है, पर हम अकारण भी हसते थे। पाठ याद करते समय हम दोनो को कमरे के दो कोनो मे भीत की ओर मुंह करके विठाया जाता था, फिर भी झुक-झुक कर हम एक-दूसरे की ओर देखते और हसते। छोटी-मोटी कोई भी घटना या स्थिति हमारे हसने का कारण वन जाती थी। हम अभिधान चितामणि कोष कठस्थ कर रहे थे। मुनि तुलसी के पास वाचन करते समय जव 'पेढाल पोट्टिलश्चापि' जैसे विचित्र उच्चारण वाले नाम हमारे सामने आये तो हम दोनो अपनी हसी रोक नही पाये। कठोर अनुशासन पसद करने वाले हमारे अध्यापक मुनि तुलसी ने उस उद्दडता के लिए कई दिनो तक हमारा शिक्षण वद रखा। इसी प्रकार मेवाड से आये एक व्यक्ति की फटी-फटी-सी वोली सुनकर भी हम अपनी हसी नही रोक सके और दड स्वरूप कई दिनो तक शिक्षण वद रहा।

वच गए

तारानगर की वात है। मैं पानी पीने के लिए गया। उसी समय मुनि नथमलजी भी वहा पहुच गये। वे मुझे हसाने का प्रयास करने लगे। वहुत देर तक उन्होने मुझे पानी नही पीने दिया। आखिर झल्लाकर मैंने उनको धमकी दी कि मुनि तुलसी के पास मै आपकी शिकायत कर दूगा। तव वे रुके और मैं पानी पी सका। उस समय हम दोनो को यह पता नही था कि पास के कमरे से महामना मगनलालजी स्वामी हमारी कारस्तानी देख रहे है। सायकालीन भोजन परोसते समय मत्री मुनि ने कालूगणी के सम्मुख ही हमसे पूछा कि आज मध्याह्न मे पानी पीते समय तुम दोनो क्या कर रहे थे? हमारी तो भय के मारे मानो घिग्घी ही वध गई। मत्री मुनि ने हसते हुए हमारी नोक-झोक कालूगणी को सुनाई और कहा—दोनो ही वहुत चचल है। आचार्यश्री ने अर्थभरी दृष्टि से हमारी ओर देखा और मुस्करा दिये। हम दोनो तव आश्वस्त हो गये कि वच गये।

बडा बनना है या छोटा

लगता है आचार्यवर ने हमारे हसने के उस स्वभाव को बदलने के लिए मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया। एक दिन दोनो उपपात मे बैठे थे तब उन्होने फरमाया—आओ एक सोरठा याद करो। उन्होने सिखाया—

हसिये ना हुंसियार, हंसिया हलकाई हुवै।
हंसिया दोष हजार, गुण जावै गहलो गिणै॥

इसी प्रकार एक-दूसरे अवसर पर उन्होने हमे यह श्लोक कठस्थ कराया—

बाल सखित्वमकारणहास्य,
स्त्रीषुविवादमसज्जनसेवा।
गर्दभयानमसस्कृतवाणी,
षट्सु नरो लघुतामुपयाति॥

आचार्यश्री ने हमे शिक्षा देते हुए कहा—"बच्चो के साथ मित्रता, अकारण हास्य, स्त्रियो के साथ विवाद, दुर्जन की संगति, गधे की सवारी और अशुद्ध वाणी—इन छह बातो से मनुष्य छोटा बन जाता है।" शिक्षा के बीच मे ही आचार्यश्री ने हमसे प्रश्न किया—"तुम लोग बडा बनना चाहते हो या छोटा।" हम दोनो ने एक साथ उत्तर दिया—'बडा'। आचार्यश्री ने तब हमारी ओर एक विचित्र दृष्टि से देखते हुए कहा—"बडा बनना चाहते हो तो इन बातो से बचना चाहिए।" सहज भाव से दी गई उक्त शिक्षा हमारे अन्तरग मे उतरती गई और हम शीघ्र ही अकारण हास्य के उस स्वभाव से मुक्त हो गये।

पारस्परिक स्पर्धा

गहरी मित्रता के साथ-साथ हम दोनो मे स्पर्धा भी चलती रहती थी। खडिया से पट्टी कौन पहले लिखता है, श्लोक कौन शीघ्र याद करता है, आचार्यश्री की सेवा मे कौन पहले पहुचता है, मुनि तुलसी का कथन कौन पहले कार्यान्वित करता है—ये हमारी स्पर्धा के विषय हुआ करते थे। कभी-कभी अन्य विषयो मे भी स्पर्धा हो जाया करती थी। स० १९८९ मे एक बार श्री डूगरगढ मे कालूगणी की सेवा मे मुनि नथमलजी बैठे थे। आचार्यश्री ने अपने 'पुट्ठे' से भर्तृहरि का नीतिशतक निकाल कर उन्हे दिया। उन्होने आकर मुझे दिखाया तो मैने भी गुरुदेव से उसकी माग की। एक बार तो उन्होने फरमाया कि 'पुट्ठे' मे एक ही प्रति थी, वह दे दी गई, अब तुम्हारे लिए कहा से आये। इस पर भी मैने अपनी माग को दुहराया तब मुनि चौथमलजी के 'पुट्ठे' से एक-दूसरी प्रति निकलवाकर उसी समय मुझे दी गई।

स० १९९० मे बीदासर मे आचार्यश्री का प्रवास था। मै अकेला आचार्यश्री

की सेवा मे था । आचार्यश्री ने अपने 'पुठ्टे' से एक कवितापत्र निकाला और मुझे दिया । मैंने मुनि नथमलजी को वह दिखलाया तो उन्होने भी उसकी माग की । दूसरा पत्र उपलब्ध नही था, अत नया लिखवाकर उन्हे दिया गया ।

स० १९८९ के सरदारशहर चतुर्मास मे दीक्षाए हुई तब जो वस्त्र आया, उसमे से एक कबल को अलग रखते हुए आचार्यश्री ने कहा—"यह नत्थू-बुद्धू को देना है ।" किसी मुनि के द्वारा हमे उक्त सूचना तो मिली ही, साथ ही यह भी पता चला कि उस कबल के एक भाग मे कुछ काले धब्बे है । मध्याह्नकालीन भोजन के पश्चात् कालूगणी ने कबल के दो टुकड़े किए और हमे देने लगे तब हम दोनो ने ही बिना धब्बे वाले टुकडे की माग की । आचार्यश्री ने हमे समझाने का प्रयास किया कि धोने पर ये धब्बे मिट जायेगे, परन्तु धब्बे वाला भाग लेने के लिए हम दोनो मे से कोई भी उद्यत नही था । आखिर आचार्यश्री ने दोनो भागो को अपनी गोद मे दबाया और वस्त्र से ढक दिया । केवल दो छोर ऊपर रखकर हमसे कहा कि एक-एक छोर पकड लो । हम दोनो ठिठके तो सही, परन्तु फिर एक-एक छोर पकड लिया । धब्बो वाला भाग मुनि नथमलजी को मिला । वे थोडे उदास हुए, परन्तु जब दोनो भाग धुलकर पुन हमारे पास आये तब हम पहचान ही नही पाये कि धब्बो वाला भाग कौन-सा था ।

मुनि तुलसी अर्थ करते

स० १९८९ मे हम दोनो अभिधान चिंतामणि कोश कठस्थ कर रहे थे । आचार्यश्री ने फरमाया—मध्याह्न मे प्रतिदिन एक श्लोक सिंदूर प्रकर (सूक्ति मुक्तावलि) का भी याद किया करो । हम वैसा ही करने लगे । कुछ श्लोक कठस्थ हो जाने के पश्चात् हमे आदेश हुआ कि साय प्रतिक्रमण के पश्चात् तुम दोनो श्लोको का गान किया करो और तुलसी अर्थ किया करेगा । बाल्यावस्था के कारण उस समय हमारा स्वर महीन और मधुर था । आचार्यश्री के सम्मुख खडे होकर हम दोनो उपस्थित जन-समूह मे प्रतिदिन चार श्लोको का गान करते और हमारे अध्यापक मुनि तुलसी उनका अर्थ किया करते ।

एक शिकायत

मुनि तुलसी हमे काफी कडे अनुशासन मे रखते थे । इधर-उधर घूमने की छूट तो देते ही नही थे, परस्पर बात भी नही करने देते थे । हम दोनों नें कालूगणी के पास शिकायत करने का निर्णय किया । रात्रि मे जब आचार्यश्री सोने की तैयारी कर रहे थे तब हम गये और पास जाकर वन्दन किया । आचार्यश्री ने दोनो के सिर पर हाथ रखते हुए पूछा—"बोलो, क्यो आये हो ?"

हम दोनो ने कुछ सकुचाते और कुछ साहस करते हुए कहा—"तुलसीरामजी स्वामी हमे बात भी नही करने देते, बहुत कडाई करते है।"

आचार्यश्री ने पूछा—"यह सब वह तुम्हारी पढ़ाई के लिए ही करता है या अन्य किसी कारण से !"

हमने कहा—"करते तो पढाई के लिए ही है।"

आचार्यश्री ने फरमाया—"तब फिर क्या शिकायत रह जाती है ! इस विषय मे जो वह चाहेगा वैसा ही करेगा। तुम्हारी बात नही चलेगी।"

हम दोनो अवाक् थे। न कुछ कह पाये और न उठकर ही जा पाये। आचार्यश्री ने हमे एक कहानी सुनाते हुए कहा—"राजा का पुत्र गुरुकुल मे पढा करता था। अन्य छात्र भी वहा पढ़ते थे। कई वर्षो के पश्चात् पढाई सम्पूर्ण हुई तब आचार्य राजकुमार को राजा के पास ले गये। मार्ग मे राजधानी के बाजार में उन्होने कुछ गेहूं खरीदे और गठरी राजकुमार के सिर पर रख दी। कुछ दूर तक ले चलने के पश्चात् वह गठरी उतरवा दी गई। वे सब राजसभा मे पहुचे। राजा ने आचार्य से पूछा—'राजकुमार का व्यवहार कैसा रहा !' आचार्य ने कहा—'बहुत अच्छा, बहुत विनययुक्त।' राजा ने राजकुमार से भी पूछा—'आचार्यजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया !' सकुचाते हुए राजकुमार ने कहा—'इतने वर्षों तक तो बहुत अच्छा व्यवहार किया परन्तु आज का व्यवहार उससे भिन्न था। आज बाजार मे इन्होने मुझसे भार उठवाया।' राजा ने खिन्न होकर आचार्य से इसका कारण पूछा। आचार्य ने कहा—'यह भी एक पाठ ही था। भावी राजा को यह ज्ञात होना चाहिए कि गरीब का श्रम कितना मूल्यवान् होता है।'

आचार्यश्री ने कहानी का उपसहार करते हुए कहा—"अध्यापक तो राजा के पुत्र से भी भार उठवा लेता है, तो फिर तुम्हारी शिकायत कैसे मानी जा सकती है ! तुलसी ने तो तुम्हे बात करने से ही रोका है। जाओ, मन लगाकर पढा करो और वह कहे वैसे ही किया करो।"

हम आशा लेकर गये थे, परन्तु निराशा पाकर लौट आये। दूसरे दिन मुनि तुलसी के पास पढने के लिए गये तो मन मे उथल-पुथल मची हुई थी कि कही हमारी शिकायत का पता लग गया तो क्या होगा।

अर्थदान

मोमसार की बात है आचार्यश्री कालूगणी ने हम दोनो को एक दोहा कठस्थ कराया—

हर डर गुरु डर गाम डर, डर करणी मे सार।
तुलसी डरै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार॥

आचार्यश्री ने उसका अर्थ भी हमे समझाया। उस समय की समझ के अनुसार

हमने उसे पूरा समझ लिया। कुछ समय पश्चात् जब थोडा-सा मिल-बैठने का समय मिला तब हमने उस दोहे को फिर से स्मरण किया। उसके अर्थ पर भी ध्यान दिया। हमने समझा था कि भगवान्, गुरु, जनता और अपनी क्रियाओ का भय रखना जितना आवश्यक है उतना ही मुनि तुलसी से डरना भी आवश्यक है। इस कार्य मे असावधान व्यक्ति मार खा जाता है। हमारी बाल सुलभ कल्पना मे उक्त 'तुलसी' नाम किसी कवि का न होकर हमारे अध्यापक मुनि तुलसी का ही था। हम समझे थे कि आचार्यश्री कालूगणी हमे बतलाना चाहते है कि तुलसी से डरते रहना ही तुम्हारे लिए श्रेयस्कर है। हमारा वह अर्थदान दोहे के परिप्रेक्ष मे चाहे जैसा रहा हो, परन्तु परिपूर्ण आचरणीय होकर हमारे लिए तो वह नितान्त गुणदायक ही रहा।

प्रारम्भिक कठिनाइयां

मुनि तुलसी के पास हमारा अध्ययन नियमित और सुचारु चलता था। उस समय तक सघ मे शिक्षण की कोई निश्चित पद्धति या परम्परा नही थी। कठस्थ कर लेना ही अध्ययन का प्रमुख अग था। उससे आगे बढने पर व्याकरण की साधनिका कर ली जाती थी। शब्द सिद्धि के ज्ञान पर इतना बल रहता कि शब्द-प्रयोग की दिशा प्रायः अस्पष्ट ही रह जाती। हमने अभिधान चितामणि शब्द कोश कठस्थ कर लेने के पश्चात् समग्र कालुकौमुदी कठस्थ की और उसकी साधनिका की। कालुकौमुदी का शिक्षण हमारे लिए बडा कठिनाइयो से भरा रहा। कारण यह था कि उसके निर्माण और हमारे शिक्षण की सम्पन्नता प्राय साथ ही हुई। इसलिए निर्माण-काल की काट-छाट का झझट सदा हमारे शिक्षण को अस्त-व्यस्त करता रहा। आये दिन हमे कठस्थ किए हुए पाठ छोड देने पडते और उनके स्थान पर नये पाठ कठस्थ करने पडते।

आज यह बात शायद आश्चर्यजनक ही प्रतीत होगी कि हमने न कभी शब्द रूपावलि सीखी और न धातु रूपावलि, यहा तक कि वाक्य बनाने का अभ्यास भी नही किया। शब्द-प्रयोग के लिए हमने सर्व प्रथम सस्कृत के पद्य-निर्माण मे प्रवेश किया। सस्कृत मे भाषण तथा गद्य-लेखन का अभ्यास तो उसके बाद ही किया गया।

विषय बदले

बाल्यावस्था से किशोरावस्था मे पहुचने पर हमारी स्पर्धा के विषय बदल गये। स० १९९१ के जोधपुर चातुर्मास मे हमने राजस्थानी भाषा मे प्रथम काव्य-रचना की। १९९४ के बीकानेर चातुर्मास मे सस्कृत भाषा मे प्रथम काव्य-रचना की। उसके पश्चात् क्रमश. संस्कृत-भाषण, गद्य लेखन और आशुकविता आदि अनेक विकास-

क्रमो की ओर हमारे कदम बढते रहे। हम परस्पर एक-दूसरे की रचना को देखते और उसके गुण-दोषो पर चर्चा करते। इन विषयो की स्पर्धा ने हमे बहुत त्वरता से आगे बढाया। शीघ्र ही हम शैक्ष मुनियो को व्याकरण, काव्य और दर्शन शास्त्र आदि अनेक विषयो का प्रशिक्षण देने का कार्य भी करने लगे।

परिहास के क्षणों मे

समय-समय पर हम दोनो मे परिहास भी चलता रहता था। एक बार मुनि नथमलजी ने किसी विषय पर मुझे कोई सुझाव दिया। मैंने उसे अस्वीकार करते हुए उनका मजाक उडाया कि मैं आपसे आयु मे दस दिन बडा हू, अत. मुझे शिक्षा देने का आपको कोई अधिकार नही है। उन्होने भी मुझे उसी लहजे मे तत्काल उत्तर दिया कि तुम दस दिनो के घमण्ड मे फले हो, मै दीक्षा मे तुम्हारे से नौ महीने बडा हू।

एक बार मैने उनको कोई सुझाव दिया तो उसका मजाक उडाते हुए उन्होने मुझसे कहा—"तुम्हारा तो नाम ही 'बुद्धू' है, तुम मुझे क्या सुझाव दे सकते हो।" मैने भी 'जैसे को तैसा' उत्तर देते हुए कहा—"मैं समझदार व्यक्ति के कथन को ही महत्त्व देता हू। 'ऐरे गैरे नत्थू खैरे' मेरे विषय मे क्या कहते है, उस पर कभी ध्यान नही देता।"

जो आज भी याद है

आक्षेपात्मक परिहास प्राय' कटुता उत्पन्न कर देते है जबकि गुदगुदाने वाले परिहास तृप्तिदायक होते हैं। वे बहुधा अपनी स्मृति मे भी वैसी ही तृप्ति प्रदान करते हैं। मेरे द्वारा किया गया एक परिहास, जिसे मैं भूल चुका था, परन्तु युवाचार्यजी को आज भी वह याद है। इसका पता मुझे तब लगा जब युवाचार्य बनने से तीन-चार दिन पूर्व ही बातचीत के सिलसिले मे उन्होने मुझे उस घटना का स्मरण कराया। उक्त घटना स० २००१ के ग्रीष्मकाल की है। उस समय वे कुछ मास का प्रथम बहिर्विहार करके वापस आये थे। बाईस वर्ष की चढती अवस्था और निश्चित एव स्वतत्र विहरण ने उनके शरीर पर काफी अच्छा प्रभाव डाला। रक्ताभ मुख उनकी स्वस्थता का अग्रिम परिचय दे रहा था। मेने उनको वन्दन किया और परिहासमय प्राचीन श्लोक का एक चरण सुनाते हुए उसी के माध्यम से उन्हे सुखपृच्छा की। स्थित्यनुकूल सटीक बैठने वाला अपना परिहास सुनकर वे खिलखिला पडे। अभी अभी राजलदेसर मे युवाचार्य बनने से पूर्व उन्होने मुझे मेरी परिहास-प्रकृति का स्मरण दिलाते हुए वही चरण गुनगुना कर कहा—"क्या तुम्हे याद है कि तुमने मेरे लिए इसका प्रयोग किया था।" लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व किए गए उस परिहास को याद कर हम दोनो एक बार फिर खिलखिला कर हस पड़े। साथ के साधु

जिज्ञासापूर्वक उस श्लोक के लिए पूछते रहे। उन सबकी जिज्ञासा को हम दोनो ने हसकर टाल दिया। शायद तब उपयुक्त भी यही था।

इस पडाव पर

आचार्यश्री तुलसी ने स० २००० का चातुर्मास करने के लिए मुझे अग्रणी बनाकर श्रीडूगरगढ भेज दिया। उसके पश्चात् धीरे-धीरे मुझे बहिर्विहारी ही बना दिया गया। तभी से हम दोनो के कार्यक्षेत्रो मे पार्थक्य प्रारम्भ हो गया। मुनि श्री नथमलजी को आचार्यश्री के सामीप्य का निरन्तर लाभ प्राप्त होता रहा, मुझे वह नही मिल पाया। पैंतीस वर्षो के इस प्रलव बहिर्विहार-काल मे मैने जीवन की दुर्गम घाटियो के अनेक उतार-चढाव पार किए है। आज जिस पडाव पर खडा हू, वहा से पूरे अतीत को बहुत स्पष्टता से देख रहा हू। विगत का पूरा लेखा-जोखा मेरे मस्तिष्क मे अकित है। उसके पृष्ठ उलटता-पलटता हू तो पाता हू कि बाल-सखा मुनि नथमलजी युवाचार्य महाप्रज्ञ बनकर भी आज मेरे वही निकटतम साथी हैं। यात्रा-मार्ग और पडावो की दूरिया हमारे सख्य मे कोई बाधा उपस्थित नही कर पाई हैं।

नया मोड आ रहा है

आचार्यश्री तुलसी ने मुनि नथमलजी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। चारो ओर वातावरण मे एक हर्षोत्फुल्लता छा गई। मैने एक अतिरिक्त आह्लाद और गौरव का अनुभव किया। दूसरे दिन प्रात प्रतिलेखन आदि कार्यो से निवृत्त होकर बैठा ही था कि अचानक युवाचार्यश्री मेरे कमरे मे प्रविष्ट हुए। मैने उठकर उनका स्वागत किया और आने का कारण पूछा। उन्होने कहा—"तुम तो मेरे साथी हो, साथी के लिए आया हू।" उन्होने मेरा हाथ पकडा और कहा—"चलो आचार्यश्री के पास चले।" मैं उनके साथ गया तो आचार्यश्री ने उस स्थिति पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए जो कुछ कहा, वह मुझे गद्गद कर गया। उसी दिन प्रात कालीन व्याख्यान मे युवाचार्य का अभिनन्दन करते हुए मैंने उक्त घटना का उल्लेख किया तो उत्तर देते समय युवाचार्य ने मेरी बात को छूते हुए कहा—"साथी तो साथी ही रहता है।" मैंने अनुभव किया, सस्मरणो के प्रवाह मे अवरोध नही, एक नया मोड आ रहा है।

शक्ति-स्वरूपा जैन साध्वियां

नारी जाति को शक्ति का अवतार कहा जाता है, वह उचित ही है, क्योकि सहिष्णुता के क्षेत्र मे वह अद्वितीय रही है। उसके सामर्थ्य की कहानियो से इतिहास भरा पडा है। मैं यहां कुछ ऐसी जैन साध्वियो के उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हू जिनकी सात्त्विक शक्ति ने उनके अपने कल्याण का मार्ग तो प्रशस्त किया ही, साथ ही जन-जीवन के लिए भी मार्ग प्रस्तुत किया। कष्ट-सहिष्णुता, कार्य-कुशलता, भक्ति-प्रवणता आदि अनेक ऐसी विशेषताए है, जो अपनी परिपूर्ण उच्चता मे प्रायः क्वचित् ही प्रकट होती है। विभिन्न साध्वियो मे उनमे से एक या अनेक का सहज अवलोकन किया जा सकता है। सर्व प्रथम यहा सरदार सती के विषय मे बतलाया जा रहा है। उनमे उपर्युक्त तीनो ही विशेषताए अपनी अनुपम छटा लिये हुए थी।

१ सरदारसती

प्रारभिक जीवन

सरदारसती चूरू (राजस्थान) के जैतरूपजी कोठारी की पुत्री थी। उनका जन्म वि० स० १८६५ में हुआ। तत्कालीन प्रथा के अनुसार मात्र दस वर्ष की अवस्था मे ही उनका विवाह फलोदी के सेठ सुलतानमलजी ढड्ढा के पुत्र जोरावरमलजी के साथ कर दिया गया। छह महीने भी नही हो पाये थे कि उनके पति का देहान्त हो गया। वे विवाहिता होकर भी अखडशीला ही रही। थोडी वडी होने पर जव वे अपनी स्थिति को समझने लगी तभी से सादगी और सयम उनके जीवन का ध्येय वन गया।

धार्मिक रग

थली मे तेरापथ का प्रचार-प्रसार करने के लिए सर्व प्रथम ऋषिराय महाराज का पदार्पण हुआ। सरदारवाई भी तव उनके सम्पर्क मे आयी। उसी वर्ष (सं० १८८७)

मे मुनि जीतमलजी (जयाचार्य) का चातुर्मास-प्रवास चूरू मे हुआ। मरदारबाई ने उनके पास तत्त्वज्ञान प्राप्त किया और सुदृढ श्राविका वन गयी। उस समय से उनके मन पर धर्म का रग ऐसा चढ़ा कि फिर किसी दूसरे रग के लिए अवकाश ही नही रहा।

सरदारवाई कभी अपने पीहर तथा कभी ससुराल मे रहा करती थी। स० १८९४ के पोपमास मे वे फलौदी मे थी तभी मुनि जीतमलजी (जयाचार्य) का वहा पदार्पण हुआ। उस अप्रत्याशित सत्सग का उन्होने काफी लाभ उठाया। उनके मन का धार्मिक रग और गहरा हो गया। वे तव दीक्षा ग्रहण कर सन्यस्त जीवन जीने की वात सोचने लगी। परन्तु उनके सम्मुख एक वड़ी वाधा थी कि ससुराल वालो से दीक्षा के लिए आज्ञा कैसे ली जाए? उनके दो जेठ तथा तीन देवर थे। घर मे वडे जेठ वहादुरचन्दजी का आदेश-निर्देश चलता था। वे वहुत कडे स्वभाव के व्यक्ति थे। दूसरी वाधा यह भी थी कि तत्कालीन सामाजिक पद्धति किसी भी वहू को अपने से पद मे वडे पुरुष के साथ वोलने की आज्ञा नही देती थी। इतना ही नही, उसके सामने स गुजरना भी मर्यादा-भग माना जाता था। उन्होने तव जेठानी जी को माध्यम वनाकर आज्ञा लेने का उपक्रम किया। वहादुरचन्दजी ने सारी वाते सुनी और फिर रोप व्यक्त करते हुए कहा—"करोडपतियो की वेटी और करोडपतियो की वहू भी भीख मागेगी तो दरिद्र क्या करेगे? वहू से कह दो कि फिर कभी ऐसी वात मेरे सामने न आये।" सरदारवाई चुप हो गयी। आगे कुछ कहलाने का वे साहस नही जुटा पायी। धर्म का रग अन्दर-ही-अन्दर पकता रहा, घुटता रहा, पर आगे का द्वार अवरुद्ध ही दिखाई दिया।

प्राणों की वाजी

दो वर्ष तक शान्त साधना करते रहने के पश्चात् सरदारवाई को लगा कि वलिदान के विना कोई कार्य होने वाला नही है। तव स० १८९६ मे उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जव तक आज्ञा-पत्र प्राप्त नही कर लूगी तव तक वेले-वेले पारण (दो दिनो के अन्तर से भोजन) किया करूगी। साथ ही प्रति मास एक पचोला (पाच दिनो का उपवास) या उससे अधिक कोई तपस्या करती रहूगी।

वहादुरचन्दजी को जव उनकी प्रतिज्ञा का पता चला तो उन्होने कहा—"किसी को भूखो मरना हो तो उसकी इच्छा, पर हम यह कभी नही होने देंगे कि हमारे घर का कोई व्यक्ति भीख माग कर खाये और हमारे समाज मे हमारी नाक कटवाए।" तपस्या चलती रही परन्तु जेठ पर उसका कोई प्रभाव नही हुआ तव सरदारवाई ने दवाव डालने के लिए घर का भोजन ग्रहण करने का त्याग कर दिया। इस पर जेठ ने उनके लिए घर मे वाहर जाने की रोक लगा दी। एक-एक कर छह दिन निराहार निकल गये तव जेठ को झुकना पडा। अपने पुरोहित के

यहा से भोजन मगवा कर उन्हे पारण करवाया गया। वेले-वेले की तपस्या तो चलती ही थी अत. हर तीसरे दिन वाहर से भोजन मगाना पडता था। उसका भी कोई प्रभाव नही हुआ तब सरदारबाई ने केश-लुचन कर श्वेत वस्त्र पहन लिये और आज्ञापत्र न मिलने तक अन्य प्रकार के वस्त्रो का त्याग कर दिया। उनके इस व्यवहार से जेठ जल-भुन गये। उन्होने अपनी पत्नी को आदेश दिया कि वह बल-पूर्वक उनके वे वस्त्र उतरवा दे। परन्तु पत्नी ने वैसा करना उचित नही समझा। जेठ ने कहा—"मर भले ही जाओ, परन्तु आज्ञा नही मिलेगी।"

जेठ के उक्त शब्दो से सरदारवाई ने स्पष्ट समझ लिया कि अब 'करो या मरो' के सिवा कोई मार्ग नही है। उन्होने तब प्राणो की बाजी लगाते हुए घोषित किया कि जब तक दीक्षा की आज्ञा नही दी जायेगी तब तक वे अन्न-जल ग्रहण नही करेगी। उनकी प्रतिज्ञा ने एक साथ ही सबको हिला दिया। बहादुरचन्दजी भी अन्दर से तो चिंतित हुए परन्तु बाहर से कठोर बने रहे।

अनशन कर देने के पश्चात् सरदारबाई प्राय अपने कमरे मे ही रहने लगी। उनका अधिकाश समय जप, ध्यान आदि धार्मिक क्रियाओ मे व्यतीत होने लगा। निर्जल अनशन के एक-एक कर आठ दिन गुजर गये। तब तक फलौदी के घर-घर मे अनशन की बात फैल गयी। बहादुरचन्दजी पर तरह-तरह के दबाव आने लगे तब उन्हे कोई मार्ग निकालने के लिए सोचना पडा। कठोरता को वे आजमा चुके थे, अत इस बार नम्रता से प्रलोभन देकर झुका लेने की बात सोची। वे सरदारबाई के पास आये और बोले—"तुम चाहो तो मेरे दोनो पुत्रो मे से किसी एक को गोद ले लो। धन की पाती लेकर पृथक रहना चाहो तो पृथक् रहो और साथ रहना चाहो तो साथ। गरीबो मे धन बाटना चाहो तो खूब बाटो, अपने घर मे कोई कमी नही है। साधु-साध्वियो की सेवा मे कही जाने की इच्छा हो तो रथ एव नौकरो आदि की पूरी व्यवस्था कर दी जायेगी। जो भी मन मे आये, वह सब करो पर एक ही शर्त है कि दीक्षा की बात छोड दो।" सरदार सती को इनमे से कोई भी बात स्वीकार नही हुई तब बहादुरचन्दजी निराश होकर वापस चले गये।

घोर निर्जल तपस्या के कारण सरदारबाई के मुख से खून गिरने लगा। उससे सभी को घबराहट हुई। जेठ के सिवा घर के शेष सभी सदस्यो की उनके प्रति पूर्ण सहानुभूति थी। अस्सी वर्षीया वृद्ध दादीसास तथा जेठानी आदि ने आज्ञा दे देने के लिए बहादुरचन्दजी पर बहुत दबाव डाला पर उनके तो वही ढाक के तीन पात रहे। अनशन के दस दिन व्यतीत हो गये तब जेठानी ने उनकी सहानुभूति मे तब तक अन्न-जल का त्याग कर दिया जब तक कि उनका वह अनशन चले। इसी प्रकार दादीसास ने भी औषधि और जल के सिवा भोजन ग्रहण करने का त्याग कर दिया। घर मे तीन व्यक्तियो के आजीवन तपस्या चलने लगी। घर के सभी सदस्यो का सामना करना ढड्ढा जी के लिए कठिन हो गया तब उन्होने

अन्यमनस्कता के साथ आज्ञापत्र लिख दिया। निर्धारित संकल्प पूर्ण हो चुका था, अत सरदारसती ने उस दिन जल ग्रहण किया और अगले दिन पारण कर लिया। आज्ञापत्र लिख देने पर भी उन्हे सौपा नही गया, अत' वेले-वेले की तपस्या, घर के भोजन का त्याग तथा श्वेत वस्त्र-परिधान—ये तीन प्रत्याख्यान पूर्ववत् चालू रहे।

आज्ञापत्र सौप देने के लिए वात चलाई तो जेठ ने कहा—"लिख ही दिया है तो अव सौपना ही है। चूरू भेजेंगे तव सौप देंगे।" जेठ के उक्त कथन से सरदार सती आश्वस्त हो गयी, पर वह धोखा ही निकला। दिन व्यतीत होते गये किंतु न चूरू भेजने की तैयारी की गयी और न आज्ञापत्र ही सौपा गया। जानवूझकर किये जाने वाले उस विलव का कही अन्त दिखाई नही दिया तव उन्हे दूसरी वार अपने प्राणो की वाजी लगानी पडी। उन्होने चूरू भेजने की तैयारी करने से पूर्व अन्न-जल का त्याग कर दिया। इतनी-सी वात के लिए भी निर्जल तपस्या के सात दिन निकल गये तव जाकर तैयारी की गयी। आठवे दिन पारण करके वे रथ पर वैठकर विदा हुई।

विदा होने से पूर्व सरदारवाई ने अपने सारे आभूषण जेठ को सभला दिये। जेठ ने चालीस हजार रुपये उन्हे देते हुए कहा—"अपने आभूषण और ये रुपये जैसे चाहो वैसे अपने हाथो से वाट दो।" उन्होने तव उनमे से पन्द्रह सौ रुपये तो आगम खरीदने के लिए रखे, शेष रुपये, आभूपण और कपडे इच्छानुसार वाट दिए।

विदा होने लगी तव सरदारवाई ने आज्ञापत्र मागा। जेठ ने कहा—"तुम्हारे साथ जा रहे मुनीमजी को वह दे दिया है। वे तुम्हारे पिताजी के सामने ही तुम्हे सौप देंगे।" जेठ का यह कथन एक मायाचार मात्र था। चूरू पहुचने पर मुनीम ने आज्ञापत्र उसके पिता और भाई को देते हुए सरदारवाई को वतलाया कि उसे ऐसा ही आदेश था। पिता और भाई भी उनकी दीक्षा के विरुद्ध थे, अत वात पुन खटाई मे पड गई। अनेक तपस्या, अनेक प्रत्याख्यान और अनेक दवावो के वाद भी जव आज्ञापत्र उन्हे नही दिया गया तव तीसरी वार उन्होने अन्न-जल का परित्याग कर दिया। आज्ञापत्र उनके लिए प्राणातक परीक्षाओ का एक सिलसिला वन गया था। प्रचड गरमी के दिनो मे निर्जल अनशन के पाच दिन निकल गये। आखिर पिता और भाई का मन पिघला। उन्होने एक शर्त रखी कि पाच वर्ष तक दीक्षा नही लेने का वचन दो तो आज्ञापत्र तुम्हे अभी सौंप दिया जायेगा। सरदारवाई ने कहा—"आप पाच वर्ष की वात करते है, परन्तु आज्ञापत्र सौंपे विना तो मेरे पाच दिन भी निकल पाने संभव नही है।" आखिर आज्ञापत्र उन्हे सौंप दिया गया तव कही उन्होंने जल ग्रहण किया। आज्ञापत्र की प्राप्ति के साथ ही तद् विपयक उनके सारे त्याग पूर्ण हो गये।

सयम के पथ पर

मुनि जीतमलजी उस समय तक युवाचार्य बन चुके थे। उनका चातुर्मास उदयपुर मे था। सरदारबाई ने उनके दर्शनो की व्यवस्था के लिए कहा तब पिता ने सुरक्षा तथा काम के लिए कुछ स्त्री-पुरुषो को उनके साथ ऊटो पर भेजा। सरदारबाई वहली पर बैठकर विदा हुई। थली, मारवाड तथा मेवाड के अनेक क्षेत्रो से साधु-साध्वियो के दर्शन करती हुई कार्तिक कृष्णा ४ को उदयपुर पहुची। युवाचार्यश्री के दर्शन किये। आज्ञा-प्राप्ति मे आये सकटो की कहानी सुनाई। अत्यत कठिनता से प्राप्त छोटे से आज्ञापत्र को युवाचार्यश्री के सम्मुख रखते हुए उन्होने कहा— "इन तीन पक्तियो के लिए मुझे तीन बार आमरण अनशन करना पडा है।" साहस और सहिष्णुता की उस अभिनव कहानी को सुनकर उपस्थित सभी व्यक्तियो को रोमाच हो आया।

सरदारबाई ने युवाचार्यश्री से यथाशीघ्र दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की, परन्तु उस समय उदयपुर मे साध्विया नही थी अत प्रतीक्षा करना आवश्यक था। चातुर्मास के पश्चात् गोगुदा से दो साध्विया वहा आई तब स० १८९७ मार्गशीर्ष कृष्णा ४ को उन्हे दीक्षित किया गया। बहुत शीघ्र उन्होने साधुचर्या के हर कार्य मे निपुणता प्राप्त कर ली। ग्रहणशीलता और बुद्धि की प्रखरता के बल पर आगमिक अध्ययन भी अच्छा कर लिया। साहस और कार्यक्षमता की उनमे कोई कमी नही थी। इन सभी गुणो के आधार पर आचार्य ऋषिराय ने उनको अग्रणी बना दिया। अनेक वर्षो तक वे अग्रगण्या के रूप मे जनपद-विहार करती रही।

स० १९०८ मे ऋषिराय के दिवगत होने पर आचार्य पद पर जयाचार्य आसीन हुए। उस समय तक साध्वी-समाज अपने-अपने सिघाडो के रूप मे ही चलता था। सभी सिघाडो की कोई सुनियोजित और सुनियत्रित व्यवस्था नही थी। जयाचार्य ने ऐसी व्यवस्था करनी चाही। उसमे उन्हे सरदार सती की व्यवहार-कुशलता का अच्छा सहयोग मिला। स० १९१० मे उन्हे साध्वी-प्रमुखा बनाया गया। वे तेरापथ धर्मसघ की प्रथम साध्वी-प्रमुखा थी। उससे पूर्व सभी साध्वियो की आवश्यकताओ एव व्यवस्थाओ की चिता करने वाली कोई नियुक्त साध्वी नही थी। प्रत्येक अग्रणी साध्वी प्राय अपने सिघाडे मे रहने वाली साध्वियो की ही मुख्यत चिन्ता किया करती थी। सरदार सती ने कार्य सभालने के पश्चात् बडी सूझ-बूझ और परिश्रम से काम किया। धीरे-धीरे साध्वियो के सभी सिघाडे उनकी निश्रा मे आ गये। सोलह वर्ष पश्चात् स० १९२६ मे उन्होने सिघाडो की नयी व्यवस्था की। उस समय संघ मे १७४ साध्विया थी। उनमे दस सिघाडे, जो पहले थे, वे ही रखे और शेष साध्वियो मे से योग्य देखकर एक ही दिन मे तेईस नये सिघाडे बना दिये। सबमे

अनुशासन की भावना जगाना तथा चालू व्यवस्था को बदलकर दूसरी करना—ये दोनो ही वडे कठिन कार्य है, परन्तु सरदार सती ने वडी निपुणता के साथ उन्हे कर दिखाया।

साध्वी-प्रमुखा वनने के पश्चात् सरदार सती ने सभी चातुर्मास जयाचार्य के साथ ही किये। सभी व्यक्तियो के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यत शालीन और वात्सल्य भरा रहता था, अत लोग उनका माता के समान आदर करते थे। स० १९२७ मे कुछ दिन की अस्वस्थता के पश्चात् वे पोषशुक्ला ८ को अनशन-पूर्वक दिवगत हो गई।

२ गुलाब सती

विदुषी साध्वी

महासती गुलावकुवरजी एक विदुषी साध्वी थी। वीदासर (राजस्थान) के पूर्णमलजी वेगवाणी के घर स० १९०१ मे उनका जन्म हुआ। पचमाचार्य मघवागणी की वे सगी छोटी वहन थी। वाल्यावस्था मे ही जयाचार्य के पास दीक्षित होकर गभीर आगम-ज्ञान अर्जित किया। मधुर कठ और सरस व्याख्यान के लिए वे सर्वत्र प्रसिद्ध थी। वे सदैव जयाचार्य एव मघवागणी के साथ ही विहार करती रही। मध्याह्न का व्याख्यान वहुधा वे ही दिया करती थी। अनेक वार विहार करते समय गावो मे राजपरिवार के गढो मे ठहरने के भी अवसर आते रहते थे। वहा रनिवास की महिलाओ तथा ठाकुरो को भी उनका व्याख्यान सुनने का अवसर मिलता। वे वहुत प्रभावित होते। कोई उन्हे शक्ति का अवतार वतलाता तो कोई सरस्वती का।

गणेश का अवतार

गुलावसती हस्तलेखन मे वडी निपुण थी। उनके अक्षर वहुत सुन्दर थे। उनकी लिखी हुई आगमो तथा ग्रथो की अनेक प्रतिया आज भी धर्म सघ के भडार की शोभा वढा रही है। उनके द्वारा लिपिवद्ध किये गये ग्रथो का पद्यमान लगभग डेढ लाख है। अपने युग मे इतना सुन्दर और इतना अधिक लिखने वाली वे प्रथम साध्वी थी।

जयाचार्य ने सर्वाधिक वृहत् जैनागम भगवती की पद्यवद्ध टीका (जोड) की। उसे लिखने का कार्य गुलाव सती ने सभाला। जयाचार्य पद्य वनाते जाते वे लिखती जाती। ग्रथनिर्माण की दृष्टि से यदि जयाचार्य की तुलना महर्षि व्यास से की जाए तो गुलावसती को गणेश का अवतार कहना अत्युक्ति नही होगी। एक वार सुन लेने के पश्चात् वे प्राय. दुवारा नही पूछा करती थी।

श्वेत-वसना सरस्वती

गुलावसती को प्रकृति ने खुले हाथो से रूप-सौष्ठव प्रदान किया था तो वैदुष्य उन्होने अपने परिश्रम के वल पर अर्जित किया था। सपर्क मे आने वाले व्यक्ति पर उनके उस बाह्य एव आतरिक सौष्ठव का ऐसा प्रभाव पडता कि वह उनके व्यक्तित्व की तुलना करने मे किसी मानवी को नही, देवी को ही उपस्थित करता।

स० १९४२ मे मघवागणी के साथ वे जोधपुर मे थी। उस समय के राजमान्य कविराज गणेश पुरीजी मघवागणी के सम्पर्क मे आये। अनेक विषयो पर बातचीत कर वे बडे प्रभावित हुए। जाने लगे तव आचार्यश्री ने कहा 'अवसर हो तो गुलाब-सती का सम्पर्क भी करिये।' कविराजजी उसी समय साध्वियो के स्थान पर गए और बातचीत की। वे उनसे इतने प्रभावित हुए कि घर न जाकर वापस मघवागणी के पास आये और बोले—'वे तो श्वेत-वसना साक्षात् सरस्वती है। मै अनेक रजवाडो मे अत पुर तक गया हू। अनेक रूपवती वहने देखी है, पर रूप और वैदुष्य का ऐसा मणिकाचन सयोग कही नही देखा।'

स० १९२७ मे सरदारसती के पश्चात् जयाचार्य ने गुलावसती को साध्वी-प्रमुखा वनाया। ग्यारह वर्षों तक जयाचार्य के समय तथा चार वर्षो तक मघवागणी के समय उन्होने उस भार को वडी निपुणता से निभाया। स्वभाव की कोमलता के कारण वे सभी के लिए आराधनीया और पूज्या वनी। गुलाबसती ने आयुष्य-वल वहुत कम पाया। उनकी छाती पर एक गाठ उठी। अनेक उपचारो के वाद भी वह ठीक नही हुई। उसी के कारण ४१ वर्ष की अवस्था मे ही स० १९४२ पोपकृष्णा ८ को जोधपुर मे उन्होने अनशन-पूर्वक देहत्याग कर दिया।

३. नवल सती

पीहर भेज दिया

महासती नवलाजी का जन्म स० १८८५ मे रार्मासहजी का गुडा (मारवाड) मे कुशालचदजी गोलछा की पुत्री रूप मे हुआ। तेरह वर्ष की वाल्यावस्था मे ही उनका विवाह पाली के अनोपचद जी वाफणा के साथ किया गया, परन्तु जव वे सत्रह वर्ष की हुई तव उनके पति का देहान्त हो गया। ससुराल वाले तेरापथी थे अत नवलवाई का सम्पर्क मुख्यत. तेरापथी साधु-साध्वियो से हुआ और वे उनके प्रति दृढ आस्था रखने लगी। धीरे-धीरे उनमे विरक्ति के भाव उभरे और वे सयम ग्रहण करने की वात सोचने लगी।

परिवार वाले दीक्षा देने के समर्थक नही थे। उन्होने ऐसा सहज उपाय खोजा कि साप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे। उन्होने नवलवाई को उनके पीहर भेज दिया। पीहर वाले स्थानकवासी थे और तेरापथ से विरोध रखते थे। उन्हे सारी स्थिति से अवगत भी कर दिया ताकि वे साधु-साध्वियो के सम्पर्क से उन्हे बचा सकें। वे पीहर आई तभी से माता-पिता विशेप सावधानी रखने लगे।

किवाड गिर पडे

नवल वाई प्राय घर मे ही सामायिक आदि धर्म-क्रियाए कर लेती। तेरापंथी साधु साध्वियो का उस समय तक उधर के क्षेत्रो मे कम ही आना होता था। पर सयोग तो सयोग ही होता है। उस वर्ष साध्वियो का एक सिघाडा वहा आ गया। सावधान माता-पिता ने नवल वाई को रोके रखने के लिए कमरे के किवाड जड दिये।

वेटी का मार्ग तो उन्होने रोक दिया परन्तु भवितव्यता का मार्ग रोकना उनके वश की वात नही थी। नवल वाई तो नही जा सकी, परन्तु गोचरी करती हुई सतिया उनके घर पहुच गई। बच्चो की हलचल तथा आवाजो से नवल वाई को पता लग गया कि सतिया आई है। वे जानती थी कि दरवाजा वाहर से वन्द है, फिर भी अपनी भावना के वेग को नही रोक सकी। दर्शन करने की लालसा मे उन्होंने उठकर किवाडो को थोडा-सा धकेला। किवाड भी मानो उनके करस्पर्श की प्रतीक्षा मे ही खडे थे। ज्यो ही हथेलियो का दवाव उन पर पडा, वे चौखट सहित ही नीचे आ गिरे।

नवल वाई ने वाहर आकर साध्वियो के दर्शन किये तो सभी पारिवारिक चकित रह गये। किवाडो का इस प्रकार गिर जाना एक चमत्कार माना गया। उसी दिन से नवल वाई के मार्ग की सव वाधाए समाप्त हो गई। वह पूरा परिवार तभी से तेरापथी वन गया।

नवल वाई ने वि० स० १९०५ चैत्र शुक्ला ३ को ऋपिराय के पास पाली मे सयम ग्रहण किया। थोडे ही वर्पो मे वे एक विदुपी साध्वी वन गई। आगमो के अध्ययन मे उनकी तीव्र रुचि थी। उन्होने अनेक वार समग्र आगमो का पारायण किया। ऋपिराय ने उनको शीघ्र ही अग्रणी वना दिया। स० १९४२ मे गुलावसती के दिवगत होने पर मघवागणी ने उनको साध्वी-प्रमुखा का भार सौपा। तेरह वर्पो तक उन्होने उस उत्तरदायित्व को वडी कुशलता के साथ निभाया। स० १९५५ आषाढ कृष्णा ५ को वे अनशन-पूर्वक वीदासर मे दिवगत हुई।

४ सती साध्वी प्रमुखा जेठांजी

साध्वी-प्रमुखा जेठाजी सेवा और तपस्या की प्रतिमूर्त्ति थी। अठारह वर्ष की अवस्था मे दीक्षित होकर वे सेवा मे लग गई। छोटे-वडे का प्रश्न नही, रोगी या नीरोग का भी प्रश्न नही। किसी का भी कार्य पाकर वे उसमे ऐसी तत्परता से लगती, मानो वह स्वय उन्ही का कार्य हो। साध्वी-प्रमुखा वनने के वाद भी वे सेवा-भावना से प्रचालित रही। वे एक उच्च कोटि की तपस्विनी भी थी। बाईस दिनो का निर्जल उपवास करके उन्होने तेरापथ मे जो कीर्तिमान स्थापित किया, वह आज भी विद्यमान है। उनका जीवन-काल स० १६०१ से स० १६८१ तक का था।

५ सती रूपांजी

सती रूपाजी रावलिया (मेवाड) की थी। दीक्षा की भावना होने पर पति आदि ने नाना प्रकार मे कष्ट दिये। विचलित नही कर सके तब उन्हे 'खोडे' मे डाल दिया गया। 'खोडा' काष्ठ-निर्मित वधन होता था। उसके छेद मे पैर डालकर ताला लगा देने पर व्यक्ति कही जा नही सकता था। रूपाजी उस कैद मे भी सारे दिन भजन-स्तवन गाती और स्वामीजी के नाम का जप करती। प्रकृति के किसी गूढ चमत्कार से इक्कीसवे दिन 'खोडा' स्वय ही टूट गया। जनता मे बात फैली। उदयपुर के महाराणा तक भी पहुची। उन्होने परिवार वालो को उपालभ पूर्वक कहलाया कि ऐसे भक्तजनो को कष्ट न पहुचाया जाए। आज्ञा मिलने पर स० १८५२ मे दीक्षा हुई पर पाच वर्प बाद ही वे दिवगत हो गई।

६ सती दीपांजी

सती दीपाजी जोजावर (मारवाड) की थी। स० १८७२ मे दीक्षित हुई। अत्यत निर्भीक, विदुपी एव शास्त्रार्थ-निपुण थी। एक वार लावा-सरदारगढ मे अन्य संप्रदाय के मुनि मानजी ने उन्हे ठाकुर साहव की मध्यस्थता मे गढ मे शास्त्रार्थ करने के लिए आह्वान किया। दीपाजी ने उसे स्वीकार कर सभा मे उन्हे पराजय दी।

एक वार जगल मे एक लुटेरे ने तलवार के वल पर उनके वस्त्रपात्र नीचे रखवा लिये। पर ज्यो ही वह उन्हे समेटकर बाधने लगा, दीपाजी ने उसकी तलवार उठा ली। फिर वह उसे तभी मिली जब साध्वी-मडल अगले गाव पहुच गया।

एक वार जगल मे कई लुटेरो ने उन्हे घेर लिया। वस्त्र पात्र रखवा लिये।

दीपाजी ने तब साध्वियो का गोल घेरा बनाया और नमस्कार मत्र का जोर-जोर से जप करने लगी। लुटेरे अनिष्ट की आशका से घबरा कर भाग खडे हुए।

एक बार किसी श्रावक ने उनके पात्र मे बहुत सारा घी डाल दिया। शाम को खिचडी आदि मे मिलाकर सतियो ने उसे खा लिया। प्रतिक्रमण के पश्चात् दीपाजी ने सबको तपस्या की प्रेरणा दी। फलस्वरूप उनके सिघाडे मे एक साथ पाच छह-मासी तप हुए। स० १९१८ आमेट मे उन्होने अनशन पूर्वक देह-त्याग किया।

जयपुर के प्रमुख तेरापंथी श्रावक

हरचन्दलाल जी सीधड

जयपुर आचार्य भिक्षु के समय मे ही तेरापथ का विहार क्षेत्र बन गया था। स्वामीजी यहा स० १८४८ के[1] फाल्गुल मास मे पधारे और २२ रात बिराजे। प्रतिदिन बडे सरस और प्रेरक व्याख्यान हुआ करते थे। स्वामीजी के द्वारा सम्यक्त्व और चारित्र के विषय मे किए गए विवेचनो ने यहा के धार्मिक क्षेत्र को ऊहापोह से भर दिया। लोगो के मुख से सुन सुनकर युवक हरचन्दलालजी स्वामीजी के प्रति आकृष्ट हुए और उनके सम्पर्क मे आये। एक दिन आये तो फिर मानो निरन्तर आने के लिए बध्र ही गए। बातचीत की, तत्त्व को समझा और फिर गुरु धारणा कर ली। उनके पिता किसनचन्द जी उस समय के प्रसिद्ध जौहरी गिने जाते थे। धार्मिक दृष्टि से मन्दिर मार्गी थे। हरचन्दलालजी जवाहरात के काम मे दक्ष हो चुके थे वे पिता के बडे विनीत थे अत उन्होने स्वामीजी से कहा—मैं नही चाहता कि मेरे कारण पिताजी को किसी प्रकार का खेद हो अत आप मेरा नाम प्रकट मत करना। स्वामीजी के नाम प्रकट करने का कोई प्रयोजन नही था, परन्तु उनके साथ आने वालो से बात छिपी नही थी।

स्वामीजी के उस पदार्पण के लगभग २० वर्ष पश्चात् आचार्य भारमलजी

---

१ ऋषिराय सुजस ६/दो० ३

> 'भिखू प्रथम पधारिया, सैतालिसे उनमान।
> रात्रि बावीस रै आसरे, रह्या मुनी गुणखान॥

उपर्युक्त पद के अनुसार स्वामीजी का जयपुर प्रवास स० १८४७ मे हुआ, परन्तु लाडनू स्थित शासन के पुस्तक भण्डार मे युवाचार्य भारमल जी द्वारा लिखित साधु आचारी की प्रति है। उसकी पूर्ति जयपुर मे स० १८४८ फाल्गुन शुक्ला १५ गुरुवार को हुई, ऐसा लिखा है। उससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि स्वामीजी सवाई माधोपुर चातुर्मास करने के पश्चात् फाल्गुन' मे जयपुर पधारे।

का यहा चातुर्मास के लिए पधारना हुआ। लम्बे समय तक सम्भाल न होने पर भी हरचन्दलालजी बहुत दृढ रहे। उस चातुर्मास मे उनका पूरा परिवार दृढधर्मी हो गया। स० १८६९ का वह चातुर्मास जनोपकार की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण रहा। अनेक नये परिवारो ने गुरुधारणा की। उसके पश्चात् तो साधु-साध्वियो तथा आचार्यश्री का यहा बार-बार पदार्पण होता रहा।

हरचन्दलालजी जवाहरात के काम मे बहुत दक्ष थे। उन्होने अपने व्यापार को इतना बढाया कि यातायात की असुविधा के उस युग मे भी कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, हैदराबाद, दिल्ली और आगरा आदि १२ नगरो मे अपने नये व्यापार-केन्द्र प्रारम्भ किये। अपने समय मे वे जौहरियो के बादशाह कहे जाते थे। व्यापारिक और धार्मिक—दोनो क्षेत्रो मे शिखरस्थ बन जाने वाले विरल व्यक्ति ही देखे जाते हैं। हरचन्दलालजी उन्ही व्यक्तियो मे से एक थे। उनकी उस उन्नति से अनेक लोग प्रसन्न थे तो अनेक ईर्ष्यालु भी।

अजमेर निवासी एक व्यापारी सेठ ने ईर्ष्यावश एक कुटिल चाल चली। उन्होने बाजार से उनके नाम की छ लाख रुपयो की हुडिया एकत्रित कर ली। वे उन्हे भुगतान के लिए एक साथ जयपुर भेज देना चाहते थे, ताकि समय पर भुगतान न कर पाने पर उनका दिवाला निकल जाए। परन्तु बिल्ली के चाहने पर कब छीके टूटे है ? हुडियो के एक दलाल को उक्त योजना का पता चल गया। उसने तत्काल जयपुर आकर हरचन्दलालजी को चेता दिया कि कल बाजार खुलते ही आपके नाम छ. लाख रुपयो की हुडिया आने वाली हैं। ये समाचार मिले तब तक प्रहर रात्रि व्यतीत हो चुकी थी। बाजार सब बन्द हो चुके थे, अत इतनी बडी रकम एकत्रित करना सहज नही था, फिर भी कार्य तो करना ही था। वे उसी समय अपने व्यावसायिक मित्रो से मिले और साढे पाच लाख रुपयो की व्यवस्था कर ली। पचास हजार रुपये उस दिन उनकी अपनी दुकान मे पोते बाकी थे। इस प्रकार छ लाख रुपयो से भरे कट्टे जब उनकी हवेली मे पहुच गये तब वे निश्चिन्त होकर सोये।

दूसरे दिन बाजार खुलते ही उन सेठजी का आदमी हुडिया 'देखी' (स्वीकार) करवाने आ पहुचा। हरचन्दलालजी ने सारी हुडिया तत्काल 'देखी' कर दी। मध्याह्न होने तक तो उन्होने भुगतान भी भेज दिया। उन सेठजी के सारे मनसूबे एक साथ ही मिट्टी मे मिल गए। हरचन्दलालजी का एक बाल भी बाका नही हुआ।

उस समय तक जयपुर मे व्यापारियो के लिए यह नियम था कि जिस दिन हुडी पहुचे उसी दिन देखी कर दे और बारह बजे तक भुगतान भेज दें। हरचन्दलालजी ने सर्राफो की पचायत बुलाई और उसमे उन सेठजी की नीयत का दिग्दर्शन कराते हुए भुगतान करने के नियम को बदल देने की आवश्यकता

वतलाई। सभी ने सोच-विचार कर एक मत से यह नियम वनाया कि जयपुर की हुंडी का भुगतान तीन दिनो मे तथा बाहर की हुडी का भुगतान इक्कीस दिनो मे कर दिया जाये। यह नियम बन जाने पर व्यापारियो को काफी सुविधा हो गई।

हरचन्दलालजी धनिक होने के साथ-साथ धार्मिक भी उच्चकोटि के थे। उन्होने जयपुर क्षेत्र मे धार्मिक प्रचार-प्रसार का काफी प्रयास किया। उनके सम्पर्क से सैकडो व्यक्ति तेरापंथी बने। उनकी अगली अनेक पीढियो ने भी यथावत् अपना दायित्व निभाया। स० १८६९ मे उनकी हवेली मे प्रथम चातुर्मास हुआ तब से कुछ अपवादो को छोडकर स० २००६ तक प्राय वही चातुर्मास होते रहे। इतने लम्बे समय तक 'शय्यातर' का लाभ विरल व्यक्ति ही ले पाते है।

२. महेशदासजी मूथा

महेशदासजी मूथा मूलत किशनगढ के थे, परन्तु बाद मे जयपुर निवासी हो गये। स० १८६९ के ग्रीष्मकाल मे आचार्य भारमलजी किशनगढ पधारे तब वे तेरापथ के विरोधी थे, कट्टर स्थानकवासी श्रावक थे। वहा शास्त्रार्थ का निश्चय हुआ। जब शास्त्रार्थ मे निरुत्तर हो गये तब पहले से बनाई व्यवस्था के अनुसार हल्ला मचा दिया गया कि तेरापथी हार गये। सभा विसर्जित हो गयी। वहा कोई तेरापथ का घर नही था, अत कोई प्रत्युत्तर करने वाला भी नही था। कालान्तर मे महेशदासजी तेरापथी बन गये तब उन्होने यह भेद स्वय ही खोला कि हल्ला मचवाने मे उन्ही का मुख्य हाथ था। उन्होने अपनी एक गीतिका मे भी इस बात को स्पष्ट किया है—

रुपया दीया पाच, ते तो किम बोले साच।

मुनि हेमराजजी ने स० १८६९ का चातुर्मास किशनगढ मे किया। प्रारम्भ मे वहा कोई तेरापथी नही था, परन्तु चातुर्मास की समाप्ति तक अनेक व्यक्ति तेरापथी बने। महेशदासजी भी उनमे से एक थे। उनकी पत्नी स० १८७७ के बाद तेरापथी बनी। महेशदासजी ने उन्हे समझाने के लिए स० १८७७ मे 'गुरुओलखावण' नाम से एक गीतिका बनाई। उसमे उन्होने तेरापथी की वेशभूषा से लेकर आचार-विचार तक की बातो से उन्हे अवगत कराया। श्रद्धा ग्रहण करने के पश्चात् वे भी उन जैसी ही पक्की हो गयी। महेशदासजी ने पाचो व्यक्तियो को श्रद्धाशील बनाया।

वे एक कवि हृदय व्यक्ति थे। उनकी अनेक गीतिकाए काफी प्रसिद्ध हुई। कुछ तो आज भी अनेक व्यक्तियो के मुखस्थ मिलती हैं, जैसे—'आज रो दिहाडो जी भलाई सूरज ऊगियो', 'भेंट भविशरण ले चरण भिक्षु तणो' तथा 'वे गुरु म्हारा थे कर ल्योनी थाहरा' आदि। पीपाड के समदडिया परिवार के पास हस्तलिखित पोथे मे उनकी अनेक ढालें सकलित मिलती है।

३. रामचन्दजी कोठारी

रामचन्दजी कोठारी का जन्म सं० १८५० के आसपास हुआ। स० १८८५ मे अग्रणी अवस्था मे जयाचार्य का जयपुर चातुर्मास हुआ। उसमे ५२ व्यक्तियो ने तत्त्व को समझकर श्रद्धा ग्रहण की। उनमे रामचन्दजी भी एक थे। धीरे-धीरे वे एक त्यागी, विरागी एव दृढधर्मी श्रावक वन गये। वे एक निपुण व्यापारी भी थे। जयपुर, आगरा, वोलपुर और कलकत्ता आदि नगरो मे उनके भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यापार थे।

एक वार वे किसी परिस्थितिवश शकाशील वन गये और आना-जाना तथा वदन-व्यवहार छोड दिया। कुछ समय पश्चात् ही स० १६०७ के शेषकाल मे युवाचार्य जय का वहा पदार्पण हो गया। उन्होने जव सुना कि रामचन्दजी शकाशील हो गये है तो उन्होने उनसे वातचीत की और उनकी शकाओ का समाधान कर दिया। वे पुन पूर्ववत् आने लगे। उन्होने जयाचार्य का वडा उपकार माना कि वे यदि उनकी शकाओ को नही मिटाते तो उनके विराधक हो जाने की सम्भावना थी। उसके वाद वे आजीवन एक जागरूक श्रावक रहे।

४ भैरूंलालजी सीधड

भैरूंलालजी सीधड जयाचार्य के अनन्य भक्त श्रावको मे गिने जाते थे। वे जयपुर के प्रथम श्रावक हरचन्दलालजी के पौत्र थे। वे अपने दादा के समान ही व्यापार कुशल एव नीति निपुण व्यक्ति थे। जयाचार्य के समवयस्क होने के कारण उनके प्रति उनकी सहज घनिष्ठता हो गयी। जयाचार्य उनसे परामर्श भी किया करते थे। कहा जाता है कि युवाचार्य जय ने स० १६०४ मे चातुर्मास किया तभी भैरूलालजी ने उनसे वचन ले लिया था कि आचार्य वनने के पश्चात् प्रथम चातुर्मास उन्हे ही देंगे। यही कारण था कि आचार्य वनते ही जयाचार्य थली के सव नगरो को छोडकर चातुर्मास हेतु जयपुर पधारे। इसी प्रकार वृद्धावस्था मे जयपुर की ओर प्रस्थान करने मे भी भैरूलालजी की प्रार्थना ही कारणभूत वनी। फलत: स० १६३७ एव ३८ के दो चातुर्मास जयपुर को प्राप्त हुए।

भैरूलालजी वडे सेवापरायण व्यक्ति थे। वे प्रतिवर्ष जयाचार्य की सेवा मे जाते और महीने-दो महीने से लेकर छ-छ महीनो तक की सेवा करते थे। घर मे जिस ठाठ-वाट से रहते उसी ठाठ से वे सेवा मे भी रहते थे। अनेक नौकर उनके साथ रहते। विहारो मे सेवा का अवसर होता तव वे ठहरने के लिए तम्वू भी साथ रखते थे। यहा तक कि गाये भी उनके साथ रहती थी। तरह-तरह का दूध पीने के वे अभ्यस्त नही थे।

एक वार जयाचार्य भैरूलालजी की हवेली मे विराज रहे थे। जयपुर नरेन्

रामसिहजी वेष बदलकर नगर मे घूमा करते थे। अवसर देखकर कई बार जयाचार्य के दर्शन हेतु हवेली मे आ जाया करते थे। नरेश के साथ बहुधा ठाकुर नारायणसिहजी रहा करते थे। एक बार हवेली मे प्रविष्ट होते समय ठाकुर साहब ने किसी प्रसग पर उन्हे 'अन्नदाता' कहा। सीधडजी के नौकर ने वह शब्द सुना तो जान गया कि नरेश आये है। नौकर ने भैरूलालजी को सारी बात बतलाई तो वे द्वार पर आकर उनके बाहर आने की प्रतीक्षा करने लगे। नरेश आये तो सीधडजी ने मोहर भेंट करनी चाही। नरेश मुस्कराकर बोले—अच्छा तो तुमने मुझे पहचान लिया है। सीधडजी ने बडी सुघडता से उत्तर दिया कि सूर्य को कौन नही पहचान लेता ? नरेश उनके उस कथन से बडे प्रसन्न हुए। वे यह कहकर आगे बढ गये कि यहा तो हम दर्शन करने आये थे, भेट लेने नही।

स० १९३८ की श्रावण पूर्णिमा के दिन सीधडजी अचानक रुग्ण हो गये। जयाचार्य वही हवेली मे नीचे चातुर्मास कर रहे थे। वे स्वय वृद्ध थे, फिर भी मध्याह्न और साय दो बार ऊपर जाकर उन्हे दर्शन दिये। जयाचार्य के मगल उपदेश से लालाजी को बडी सात्वना मिली। वे उसी रात्रि को दिवगत हो गये। बडा परिवार था, बहुत लोगो के आने की सम्भावना थी, अत जयाचार्य वहा से सरदारमलजी लूनिया के मकान मे पधार गये। लालाजी ने प्रार्थना करायी तब छठे दिन वापस वही पधार गये। वहा भाद्र कृष्णा १२ को जयाचार्य भी दिवगत हो गये। भैरूलालजी ने गुरु विरह नही देखा। वे उनसे १२ दिन पूर्व ही प्रस्थान कर गये थे।

५. पनराजजी लूनिया

पनराजजी लूनिया श्रद्धाशील और धनवान व्यक्ति थे। चापलूस मित्र मण्डली की कुसंगति ने उन्हे जुआ खेलने के व्यसन मे डाल दिया। परिवार के लोग उससे बहुत दु खी हुए। घर मे सबसे बड़े वे ही थे, अतः कहने-सुनने की भी एक सीमा ही थी। पत्नी, पुत्र आदि के कथन को वे सुना-अनसुना करते रहे। सब उपाय व्यर्थ हो गये तब उनकी पत्नी तथा पुत्र सरदारमलजी ने एक उपाय सोचा और उसी के अनुसार पनराजजी से कहा कि पूरे परिवार को जयाचार्य के दर्शन करा दे। उन्होने तब पूरे परिवार के साथ पाली मे दर्शन किये। पत्नी और पुत्र ने एकान्त मे जयाचार्य को सारी स्थिति बतलायी और उन्हे किसी भी तरह जुए का त्याग करा देने की प्रार्थना की।

जयाचार्य ने पनराजजी को उपदेश दिया तो वे लज्जित तो बहुत हुए परन्तु कह दिया कि मेरे से छोडा नही जाता। कई प्रकार से ऊचा-नीचा लेने पर भी नही माने तब एक दिन जयाचार्य ने आदेश के रूप मे कहा—हाथ जोडो ! उन्होने हाथ जोड़े तो उन्होने जुए का त्याग कराकर कहा—मैंने तुम्हारा मन न होने पर भी

तुम्हारे हित के लिए त्याग करवा दिये है। मुझे विश्वास है कि तुम मेरे आदेश का आदर करोगे और त्याग का यथावत् पालन करोगे। वे स्वीकार या अस्वीकार कुछ भी नही कर सके। फिर जयपुर चले आये।

पहले तो वे बडी असमजसता मे रहे, परन्तु अन्तत मन को दृढ किया और मित्रो के आगमन के समय श्मसान भूमि मे जाकर सामायिक करने लगे। दो-चार दिन ऐसा किया तब मित्र मण्डली ने अपना दूसरा स्थान बना लिया। फलत वे सहज ही उस कुसगति से बच गये।

एक दिन श्मसान भूमि मे वे सामायिक कर रहे थे, उसी समय उनका एक जुआरी मित्र आया और उनकी अगुली मे से हीरे की अगूठी निकाल ली। जाते समय उन्हे धर्म और गुरु की सौगध दिला दी कि यह बात किसी तीसरे को मत कहना। पनराजजी घर आये तो पत्नी ने नगी अगुली देखकर पूछ लिया कि अगूठी कहा गयी ? वे मौन रहे। तब सबने जान लिया कि जुए मे हार आये है। जयाचार्य उस समय जयपुर मे ही थे। शिकायत उन तक पहुची। उन्होंने भी पूछा तो पनराजजी ने इतना ही कहा कि मेरे त्याग यथावत् है, परन्तु अगूठी के विषय मे बतलाने की स्थिति मे नही हू। सभी ने उनकी बात को व्यर्थ समझा।

कई वर्षो पश्चात् जुआरी मित्र ने अगूठी लौटाई और सबके सम्मुख अपनी स्थिति बतलाते हुए कहा—जोधपुर मे इसे गिरवी रखकर २० हजार रुपये लिये और व्यापार किया। उसमे ४० हजार की कमाई कर ली, तब अगूठी (छुडाकर) तुम्हें देने आया हू। तुम्हारी अगूठी ने मेरी लाज रख ली। परिवार वालो को तब पता चला कि अगूठी कहा गयी थी ? जयाचार्य ने सुना तो उनकी गम्भीरता की प्रशसा की।

६ सरदारमलजी लूनिया

सरदारमलजी लूनिया पनराजजी के पुत्र थे। उनका जीवनकाल स० १९०४ से १९६९ तक का था। जयाचार्य की उन पर बहुत कृपा थी। कहा जाता है कि विहार आदि के अवसर पर उन्हे पहुचने मे देरी हो जाती तो जयाचार्य भी दो क्षण प्रतीक्षा कर लेते।

समाज मे भी उनका बडा सम्मान था। अपनी दुकान पर जाने के लिए ज्यो ही कटला मे प्रविष्ट होते, प्रत्येक दुकानदार उनके सम्मान मे खडा हो जाता। वे किसी से कुछ पूछ लेते या दो क्षण बात कर लेते तो वह स्वय को गौरवान्वित अनुभव करता।

जयाचार्य का दाह-सस्कार सरदारमलजी के बाग मे ही किया गया था। उसे अब सरकार ने ले लिया और म्यूजियम के पार्श्ववर्ती क्षेत्र मे मिला लिया। वहा

बनायी गयी सडक के किनारे जयाचार्य की छत्री अब भी अपनी महत्ता का इतिहास कह रही है।

७ छोगमलजी बांठिया

छोगमलजी भागचन्दजी बांठिया के पुत्र थे। जयपुर के तत्कालीन प्रधानमत्री हाथी बाबूजी के साथ भागचन्दजी की प्रगाढ मित्रता थी। उन्ही की प्रेरणा से वे स० १९०० के आसपास चूरू से आकर जयपुर मे बस गये और व्यवसाय करने लगे। पुत्र छोगमलजी ने व्यवसाय का मार्ग न अपना कर राज्य सेवा अपनायी। यहा से जकात महकमे के हाकिम बन गये। राज्य के तत्कालीन वित्तमत्री मोतीलालजी अटल उनके घनिष्ठ मित्र थे। किसी भी विशिष्ट कार्य से पूर्व वे दोनो परस्पर परामर्श अवश्य कर लिया करते थे।

छोगमलजी के कोई पुत्र नही था, अत अपने छोटे भाई के पुत्र सूरजमलजी को गोद ले लिया। उन्होने उनको व्यवसाय मे स्थापित किया। पुत्र ने ज्यो-ज्यो घर का भार सम्भाला, छोगमलजी अधिकाधिक धार्मिक कार्यो मे समय लगाने लगे। वे ऋषिराय और जयाचार्य के समय मे एक प्रमुख श्रावक थे। वे दिवगत हुए उस समय सीधडो की हवेली मे साध्वी रायकवरजी विराज रही थी। वे स० १९४४ से ५२ तक कारणवश वहा रही थी। छोगमलजी ने बडे प्रभावक ढग से उनके दर्शन किये। मृत्यु के कुछ समय पश्चात् अर्द्ध रात्रि के समय पूरे मकान मे विचित्र प्रकार का एक प्रकाश फैल गया। सीधड परिवार के गणेशलालजी, चम्पालालजी तथा उनकी पत्नियो ने उस दृश्य को प्रत्यक्ष देखा था। उनका कथन था कि प्रकाश और सर-सर जैसी ध्वनि से मकान मानो भर गया। फिर एक तेज ज्योतिपिड नीचे उतरा और साध्वीश्री को वदन किया। साध्वीजी ने बोली पहचान कर पूछा—कौन, छोगमलजी ? उत्तर मिला—हा महाराज ! और फिर वह ज्योतिपिड, प्रकाश और सर-सर की ध्वनि सब अन्तर्धान हो गये।

८ सूरजमलजी बांठिया

सूरजमलजी बांठिया छोगमलजी के छोटे भाई बीजराजजी के पुत्र थे। छोगमलजी के गोद गये थे। वे एक कुशल व्यापारी होने के साथ-साथ अच्छे धार्मिक भी थे। श्रावक जनोचित सामान्य प्रत्याख्यानो के अतिरिक्त उनको अनेक विशेष प्रत्याख्यान भी थे। वे छाता लगाने, पखे आदि से हवा लेने तक का त्याग रखते थे। सामाजिक कार्यो मे भी वे जागरूक थे। उन्होने सवत् १९७० मे एक पाठशाला प्रारम्भ की। उसमे बालको को धार्मिक एव सस्कृत विद्या पढायी जाती थी। कालान्तर मे वहा हिन्दी, अग्रेजी तथा गणित आदि विषय भी पढाये जाने लगे। प्रारम्भ मे उसका अर्थभार बांठियाजी ने ही वहन किया। कालान्तर मे उसे राज्य के शिक्षा विभाग

से सवद्ध कर दिया और व्यय-भार भी तेरापथी समाज को सौप दिया। उस समय भी सूरजमलजी ने २५०० रुपये दिये। वर्तमान मे वह उच्च माध्यमिक के रूप मे चल रहा है।

९. सदासुखजी दूगड

सदासुखजी दूगड के पिता खेतसीदासजी स० १९२५ मे फतहपुर (शेखावाटी) से आकर जयपुर मे बसे थे। सदासुखजी उस समय १७ वर्ष के किशोर थे। उनका विवाह पहले ही हो चुका था। जयपुर मे आने के वाद उन्होने जयाचार्य से गुरुधारणा की। वडे उच्चकोटि के श्रावक हुए। प्रतिदिन ३-४ सामायिक करते। थोकडे वहुत आते थे। पत्नी भी उसी प्रकार की धार्मिक प्रवृत्ति की थी। दोनो प्राय सामायिक मे थोकडो आदि का खूब स्वाध्याय करते। उनके पुत्र नही था, अत वीदासर से चन्दनमलजी को गोद लाये। स० १९७४ मे ६५ वर्ष की अवस्था मे दिवगत हो गये।

१० सूरजमलजी सुराणा

सूरजमलजी सुराणा के पिता मन्नालालजी गदर के समय स० १९१४ मे दिल्ली से आकर जयपुर वसे थे। उन्होने जयाचार्य के पास गुरुधारणा की। सूरजमलजी का जन्म स० १९२७ मे हुआ। वे वडे तत्त्वज्ञ श्रावक थे। स्थानकवासी विद्वान् मत आते तो वहा भी जाया करते थे। वहा दान-दया आदि विषयो पर खूब चर्चा करते। एक वार स्थानकवासी मुनि माधोलालजी का वहा चातुर्मास था। सूरजमलजी मुनि पूनमचन्दजी से रामचरित सुनने के वाद वहा जाया करते थे। सद्‌भाव युक्त चर्चा चलती रहती थी। एक दिन मुनि माधोलालजी ने कहा—तेरापथ मे दान और दया है ही नही। सूरजमलजी ने कहा—शीतकाल मे यदि मैं आपके पास आऊ और शीत से कापने लगू तो क्या आप अपनी चादर मुझे दे देंगे? मुनि माधोलालजी ने कहा—हम चादर को परठ देगे।

सूरजमलजी—मैं स्पष्ट समझा नही, थोडा खुलासा करिये।

मुनिजी—हम चादर मे ममत्व उतारकर उसे पृथक् रख देगे।

सूरजमलजी—तो क्या पहले आपका उस पर ममत्व था? इस पर मुनि माधोलालजी कुछ वोल नही पाये, चुप्पी साध गये। उनके श्रावको को भी वह चुप्पी अखरी तो सही पर वोलने के लिए उनके पास कुछ भी नही था। मुनि माधोलालजी ने वात को मोड देते हुए कहा—तेरापथ मे तुम्हारी जैसी खोपडिया कितनी है!

सूरजमलजी ने उनके व्यग्य की उपेक्षा करते हुए कहा—मैं तो वहुत साधारण हू। मेरी जानकारी वहुत न्यून है। विशेष जानकार तो हमारे यहा श्रावक गुलावचन्दजी लूणिया, सूजानमलजी खारेड, नानगरामजी नागौरी तथा

१६ किसनलालजी पाटनी

किसनलालजी पाटनी खण्डेलवाल दिगम्बर थे। जयाचार्य के पास तत्त्व समझकर तेरापथी बने। धीरे-धीरे उनके प्रयास से पूरा परिवार तेरापथी बन गया। व्यापार मे भी वे पूरी सत्यता निभाते थे। एक भाव और पूरी तौल, यह उनकी छाप थी। व्यापार दिन मे ही करते थे। रात का समय सन्तो के पास या सामायिक स्वाध्याय मे बिताते। दुकान पर भी वे खुले मुह बात नही करते थे अत लोग 'ढूढिया' कहकर पुकारने लगे। पीढियो तक उक्त विशेषण गोत्र की तरह उस परिवार के साथ जुडा रहा। किसनलालजी विरागी तत्त्वज्ञ श्रावक थे। आजीवन उन्होने अपने व्रतो को बहुत दृढता से निभाया।

१७ केसरलालजी और गौरीलालजी पाटनी

केसरलालजी और गौरीलालजी पाटनी सुन्दरलालजी के पुत्र थे। ये दोनो किसनलालजी पाटनी के प्रपौत्र थे। दोनो भाई दृढ़ श्रद्धाशील और अच्छे तत्त्वज्ञ थे। केसरलालजी वकालत करते थे। प्रतिदिन सामायिक करते और व्याख्यान सुनते थे। चर्चा-वार्ता मे भी निपुण थे।

गौरीलालजी भी बी० ए०, एल-एल० बी० थे। हिन्दी की मध्यमा और उर्दू की मुन्शी तक शिक्षा प्राप्त की। उत्साही और बडे परिश्रमी थे। सार्वजनिक कार्यों मे भी काफी रुचि रखते थे। अनेक सस्थाओ के पदाधिकारी रहे। १२ वर्षो तक जयपुर नगरपालिका परिषद् के सदस्य रहे और फिर उपाध्यक्ष भी रहे। तेरापथी विद्यालय के भी अनेक वर्षो तक मत्री रहे। मुनि-दर्शन, सामायिक और व्याख्यान आदि मे भी यथासमय रुचि से भाग लेते थे।

१८ बखतावरसिहजी भाडिया

भैरूदासजी भाडिया लखनऊ से आकर जयपुर मे बसे। जवाहरात का कार्य करते थे। मन्दिरमार्गी आम्नाय के थे। बखतावरसिहजी ने जयाचार्य के पास गुरुधारणा की। उनके कोई पुत्र नही था अत आनन्दीलालजी को गोद लिया। वे भी दृढ श्रद्धालु और धर्मपरायण श्रावक थे। कहा जाता है कि एक बार किसी व्यक्ति का उनके साथ आग्रह हो गया कि जितनी सामायिक वे करेंगे उतनी ही वह भी करेगा। आनन्दीलालजी ने तब लगातार १०१ सामायिक की। दूसरा व्यक्ति स्वय ही पराजित हो गया। इनके पुत्र गुलाबचन्द ने भी उस समय एक साथ २१ सामायिक की।

१९. भूरामलजी पटोलिया

भूरामलजी पटोलिया के पूर्वज लखनऊ से आकर जयपुर बसे थे। वे श्रीमाल थे। और खरतरगच्छीय सवेगी थे। भूरामलजी के पिता मोतीलालजी ने ऋषिराय के पास गुरुधारणा की थी। वे लाला भैरूलालजी सीघड के भानजे थे। भूरालालजी जयाचार्य के वडे श्रद्धालु श्रावको मे से थे। वे अपने समय के अच्छे विद्वान् और वहु प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। सस्कृत, उर्दू, फारसी और अग्रेजी आदि अनेक भाषाओ के विद्वान् थे। वे राज्य के हिसाव महकमे मे उच्चाधिकारी थे। नरेश के अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्तियो मे गिने जाते थे। आचार्य का स्वर्गवास हुआ, उस समय जयपुर राज्य की ओर से लवाजमा आदि की जो भी आज्ञाए हुई, वे सव भूरामलजी के नाम से हुई थी। उन्होने उसी समय उस राजाज्ञा का 'स्याहा' वनवा लिया। स्याहा वनवा लेने से वह आज्ञा पुनरावर्त्तनीय कोटि मे आ गयी। उसी आधार पर कालान्तर मे स० १९७० मे मुनि फूसराजजी तथा स० १९९६ मे मुनि पूनमचंदजी के दिवगत होने पर लवाजमा प्राप्त करने की सुविधा काम मे ली गयी।

भूरामलजी के तीन पुत्र थे—सूरजमलजी, छगनलालजी और मगनलालजी। सूरजमलजी ने अमरीकी विश्वविद्यालय मे कानूनी परीक्षा देकर एल-एल० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। वे जयपुर नगरपालिका परिषद् के ७ वर्ष तक सदस्य रहे। साथ ही अनेक वर्षो तक सैण्ट्रल एडवाइजरी वोर्ड के भी सदस्य रहे। सात वर्षो तक वे ओनरेरी मजिस्ट्रेट भी रहे। प्रतिदिन सामायिक और स्वाध्याय किया करते थे। व्याख्यान मे चातुर्मास काल मे तो प्राय आया करते थे, शेप काल मे कभी आ पाते, कभी नही।

दूसरे पुत्र छगनलालजी उच्च कोटि के वकील थे। वे भी अच्छे श्रद्धाशील और तत्त्वज्ञ श्रावक थे। जैन धर्म तथा अन्य धर्मों के मन्तव्यो का वे तुलनात्मक अध्ययन करते रहते थे। उन्होने अपने अध्ययन का सार एक रजिस्टर मे संकलित किया था। धर्म-शासन के कार्यो मे अच्छा भाग लेते थे। उनके पास जैन-अजैन ग्रन्थो का भी अच्छा सग्रह था।

तीसरे पुत्र मगनलाल जी जवाहरात का कार्य करते थे। वे भी एक अच्छे श्रद्धाशील और धर्मपरायण श्रावक थे। मुनिजनो के दर्शन करने, सामायिक करने तथा व्याख्यान सुनने की रुचि रखते थे।

२०. गट्टूलालजी हटवा

गट्टूलालजी हटवा अग्रवाल थे। वाल्यावस्था मे सस्कृत का अध्ययन करते थे। तव स० १८८१ मे मुनि जीतमलजी (जयाचार्य) ने इन्ही से सुन-सुन कर सारस्वत

व्याकरण का अध्ययन किया। जयाचार्य के उस सम्पर्क ने उनको एक अच्छा श्रद्धाशील श्रावक बना दिया। कालान्तर मे उनका पूरा घर ही श्रद्धाशील बन गया। गट्टूलालजी श्रावक बन गये थे। इसी दृष्टि से शायद मघवा गणी ने जय-सुजस की रचना करते समय उन्हे अध्ययनकाल मे भी श्रावक कह दिया है। वे कहते है 'सीखतो व्याकरण एक श्रावक' (ज० सु० ३ ३/५)।

गट्टूलालजी के पुत्र सूवालालजी और पौत्र गगालालजी (गगूजी) भी अच्छे श्रद्धाशील श्रावक थे।

२१. चन्दनमलजी दूगड

चन्दनमलजी बीदासर से सदासुखजी दूगड के गोद आये थे। अच्छे तत्त्वज्ञ थे। चर्चा वार्ता मे भी रुचि से भाग लेते थे। समाज के कार्यों मे भी बडी रुचि रखते थे। श्री जैन श्वे० तेरापथी सभा के अनेक वर्षों तक सभापति व कोषाध्यक्ष पद पर रहे। स० २००६ के आचार्यश्री तुलसी के चातुर्मास व मर्यादा महोत्सव तक 'चन्दन महल' आचार्यश्री के प्रवास स्थल के पास ही एक मकान मे रहे और पूरी सेवा दी। इनका मकान भी साधु-साध्वियो के चातुर्मास स्थल (मिलाप भवन) के सामने ही है। एक बार मिलाप भवन से मकान मे आते वक्त एक साइकिल सवार ने टक्कर मार दी जिससे चूलिये की हड्डी टूट गई। इसके बाद चलना-फिरना नही हुआ। काफी लम्बे समय अस्वस्थ रहने के बाद स० २०४४ मे दिवगत हो गये। इनके सुपुत्र श्री धनराजजी भी अच्छे धार्मिक एवं सामाजिक कार्यकर्ता थे। स० २०४६ मे दिवंगत हो गये।

२२ मोतीलालजी बांठिया

मोतीलालजी बाठिया बीजराजजी बाठिया के पौत्र और सोभागमलजी बाठिया के पुत्र थे। सूरजमलजी बाठिया के कोई पुत्र नही था अत मोतीलालजी को गोद लिया था। उनकी धर्म मे अच्छी रुचि थी। अपने ससुराल जाते तब अपने काका श्वसुर श्री तखतमलजी फूलफगर के यहा ठहरते थे। तखतमलजी अच्छे तत्त्वज्ञ थे। मोतीलालजी इनसे बराबर धारणा करते रहते थे। अनेक थोकडे कण्ठस्थ किये व उन्हे खुलासा कर हृदयगम किए। गागेयजी के भागे भी उन्हे आते थे। उनकी ४ पुत्रिया दीक्षित हैं। साध्वी श्री कमलूजी स० १९८३, साध्वीश्री सुरजकवरजी सं० १९८९ मे श्रीमद् कालूगणी से दीक्षित हुए। साध्वीश्री पानकवरजी व रायकवरजी स० १९९९ मे आचार्यश्री तुलसी से दीक्षित हुए। उनकी पत्नी

श्रीमती मनसुखी देवी भी तत्त्वज्ञ श्राविका थी। दोनो का योग सोने मे सुगन्ध था। मोतीलालजी ने अपने परिवार मे भी अच्छे सस्कार दिए। उनका जीवनकाल १९५४ से १९९६ तक रहा। सुजानगढ मे आचार्यश्री की सेवा मे थे, वही १५ दिन बीमार रहकर दिवगत हो गए। उनका पुत्र पन्नालाल बाठिया एक अच्छा श्रद्धाशील कार्यकर्ता है।

निष्ठाशील श्रावक : श्री बिहारीलालजी जैन

आत्मीय भाव

विहारीलालजी जैन राजगढ के थे, मै सादुलपुर का हू। दोनो नगर भिन्न होते हुए भी इतने सटे हुए है कि भिन्नता की सीमा को पहचान पाना कठिन है। राजस्थान मे अनेक राजगढ है, अत यहां के स्टेशन, डाकघर आदि सरकारी कार्यालय सादुलपुर के नाम से है। इस उपक्रम से दोनो नगरो की अभिन्नता और भी गहरी हो गई। विहारीलालजी के मन मे मेरे प्रति जो सामीप्य की भावना थी, उसमे अवश्य ही अनेक कारण रहे होगे, परन्तु प्रारम्भिक कारणो मे एक यह भी रहा हो तो कोई आश्चर्य नही कि मैं उन्ही के नगर का निवासी हू। अपने गाव के सतो के प्रति अतिरिक्त आत्मीयता का होना कोई असहज बात नही है।

मेरा उनसे प्रथम परिचय कहा और कब हुआ, यह सुनिर्णीत कह पाना तो कठिन है, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि वह राजगढ या सादुलपुर मे हुआ हो, यह सम्भव नही, क्योकि मै साढे ग्यारह वर्ष की वाल्यावस्था मे ही दीक्षित हो गया था। तब से अब तक मुनिचर्या की यायावरी मे मुझे अपने गाव की ओर जाने तथा वहा ठहरने के अवसर कम ही उपलब्ध हुए। विहारीलालजी अपनी वाल्यावस्था मे वहा कितने रहे, इसका मुझे पता नही, पर बाद मे अपनी व्यावसायिक आवश्यकताओ के अनुसार वे प्राय कलकत्ता मे ही रहने लग गये। जब-तब थली मे आने तथा आचार्यश्री की सेवा मे उपस्थित होने के अवसर आये होगे तब उन्ही मे मे किसी अवसर पर वे मेरे से परिचित हुए, ऐसा कहा जा सकता है। मैंने प्रारम्भ से ही अपने प्रति उनमे एक गहरा आत्मीयभाव लक्षित किया है।

प्रथम परिचय

मेरी युवावस्था के समय की बात है। उस समय मध्याह्न तथा रात्रिकाल मे समाज के अनेक युवक मेरे पास बैठा करते थे। वे प्राय पढे-लिखे होते थे या पढ रहे होते थे, अत साधु-साध्वियो से उनका सपर्क कम ही रह पाता था। धर्म के विषय मे

अनेक जिज्ञासाए और आशकाए उनके मन को घेरे रहती थी। मेरे पास बैठकर वे बहुधा उन विषयो की चर्चा करते रहते थे। मै अपनी उस अवस्था मे तर्क-वितर्क पूर्ण चर्चाओ मे काफी रस लेता था। अपने अनुभव की सीमा मे हर तर्क को समाहित करने का भी प्रयास किया करता था। ऐसे प्रसगो मे रुचि रखने वाले अन्य लोग भी श्रवणार्थ वहा बैठ जाते थे।

एक वार सरदारशहर मे किसी ऐसी ही चर्चा-गोष्ठी मे मैं अपने समाधान प्रस्तुत कर रहा था। युवको को कितना समाहित कर सका, यह तो कहना कठिन है, परन्तु यह कहा जा सकता है कि अपने तूणीर के सब तीर वे समाप्त कर चुके थे। दूसरे दिन फिर आने की वात कहकर वे प्रस्तुत प्रसग को सम्पन्न कर चले गये। श्रवणार्थियो मे से कुछ लोग प्रश्नो और उत्तरो की अपने-अपने प्रकार से कुछ देर तक समीक्षा करते रहे, फिर धीरे-धीरे वे भी चले गए। श्रवणार्थियो मे उस दिन विहारीलालजी भी थे। जब दो-चार भाई ही मेरे पास रह गए तब उन्होने आगे आकर मुझे वन्दन किया और कहने लगे—आपके उत्तर सुनकर मुझे वडी प्रसन्नता हुई। स्पष्ट और तर्कपूर्ण उत्तर देने का यह प्रकार मुझे वहुत ही पसद आया। उक्त प्रशसात्मक उद्गारो के साथ-साथ उन्होने मेरे सादुलपुर निवासी होने के कारण भी अपनी गर्वानुभूति अभिव्यक्त की। मेरी स्मृति के अनुसार विहारीलाल जी के साथ मेरा यही प्रथम परिचय था।

उक्त परिचय के पश्चात् तो जब भी वे गुरु-दर्शन को आते और यदि मैं वहा होता तो कुछ समय मेरे पास अवश्य व्यतीत करते। मैं भी उनके द्वारा प्रस्तुत की गई वातो मे रुचि लेता था।

निकटता से

मैंने कलकत्ता मे तीन चातुर्मास किए है। सन् १९७० और ७१ के दो चातुर्मास सलग्न किए, उनके शेष काल मे भी प्राय. वही उपनगरो मे विहार करता रहा। उसके पश्चात् एक चातुर्मास गोहाटी मे करके पुन लौटा तव सन् १९७३ का चातुर्मास भी कलकत्ता मे ही किया। इन वर्षो मे मुझे विहारीलालजी को निकटता से जानने एव परखने का अवसर मिला। मैंने पाया कि उनमे साधु-साध्वियो के प्रति अनन्य भक्ति है। सफल व्यापारी होने के साथ ही वे धर्मसघ के प्रति निष्ठा रखने वाले एक सुश्रावक भी थे। कलकत्ता के उस लम्बे प्रवास मे अनेक वार के सपर्क के पश्चात् मैंने देखा कि वे मेरे साथ अपेक्षाकृत खुल कर वात करने लगे थे। अपनी व्यक्तिगत समस्याओ तथा मानसिकताओ के विषय मे भी वे मेरे से निस्संकोच वात कर लेते थे। मैंने उनको सदैव सहिष्णु और स्पष्ट पाया।

सस्कारदान

कलकत्ता मे एक दिन बिहारीलालजी ने मुझे कहा--"आपको कलकत्ता आए कई महीने हो गए, आप अभी तक एक बार भी मेरे मकान पर नही पधारे। मै चाहता हूं, आप घर पर पधारे और कुछ समय लगाकर सभी पारिवारिको से परिचित हो।" मैंने उनके कथन को स्वीकार किया और एक दिन वहा गया। आसपास के अन्य श्रावको तथा बिहारीलालजी के घर की गोचरी की। उनके घर पर कुछ देर ठहर कर प्राय सभी पारिवारिकजनो से परिचय किया तथा धार्मिक प्रेरणा दी। मैंने पाया--बिहारीलालजी ने अपने पूरे परिवार को धार्मिक सस्कारो से अनुप्राणित करने का अच्छा प्रयास किया है।

लाउडस्पीकर

बिहारीलालजी की आवाज काफी बुलद थी। वे साधारण रूप मे बोलते तो भाषण देते हुए-से लगते और भाषण देते तब बिना लाउडस्पीकर के भी लाउडस्पीकर मे बोलते हुए-से लगते। मै कई बार उन्हे कहा करता था कि प्रकृति ने आपके कठो मे ही लाउडस्पीकर फिट कर दिया है, अत बाहर वाले लाउडस्पीकर की अपेक्षा ही नही रहती। वे कभी तो मेरी बात सुनकर केवल हस ही देते और कभी-कभी मजाक मे यो भी कह देते कि आपकी बात तो धीरे से कही हुई भी लोग सुन लेते है, पर मेरे जैसे को तो जोर से बोलकर ही अपनी बात सुनानी पडती है। और फिर अपने कथन की समाप्ति पर वे जोर से ठहाका लगाकर हस पडते।

एक बार मुनि दिनकरजी और मै पास-पास मे बैठे थे कि बिहारीलालजी आ गए। कमरे मे प्रवेश करते ही उन्होने अपने स्वभावानुसार बडे जोर से '**मत्थेण वंदामि**' कहा। मैंने कहा—"हम दोनो की ही श्रवण-शक्ति ठीक है, अत धीमे बोलने से भी काम चल सकता है।" उन्होने चट से कहा—"आप ही तो कहते है कि प्रकृति ने मेरे कठो मे लाउडस्पीकर लगा रखा है, तो बतलाइये, अब मै उसको निकालकर बाहर कैसे रख सकता हू?" उनके इस कथन ने उपस्थित सभी व्यक्तियो के मुख पर स्मित रेखाए खीच दी। मैंने अनुभव किया—वे प्रत्युत्पन्नमति से उत्तर देने मे भी बडे निपुण है।

ऐरे गैरे :

राजलदेसर मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर आचार्यश्री द्वारा मुनि नथमलजी को महाप्रज्ञ नाम से युवाचार्य पद पर नियुक्त किया गया। उक्त कार्य के उपलक्ष मे मित्र-परिषद् द्वारा प्रतिवर्ष निकाली जाने वाली स्मारिका का विशेष अक निकाला गया। उसमे मेरा एक सस्मरणात्मक लेख छपा। सहपाठी और समवयस्क होने के

नाते पारस्परिक परिहासो के भी उसमे कई सस्मरण है। वहा प्रदत्त एक सस्मरण के अनुसार मुनि नथमलजी (युवाचार्यश्री) ने एक वार मेरे नाम का परिहास करते हुए कहा—"मैं किसी 'वुद्धू' की वात नही मानता।" इसके उत्तर मे मैंने भी उनके नाम का परिहास करते हुए कहा—"इस विपय मे मैं 'ऐरे गैरे नत्थू खैरे' के कथन को कोई महत्त्व नही देता।" विहारीलालजी को उक्त परिहास वहुत पसद आया, वे कई वार वातचीत के सिलसिले मे उसे मेरे सम्मुख दुहरा चुके थे। इतना ही नही, कई वार तो अपनी वात की ओर विशेष ध्यान आकर्पित करने के लिए वे स्वय भी उसका प्रयोग कर लेते। वे कहते—"इसे 'ऐरे गैरे नत्थू खैरे' की वात मत समझ लेना।" और फिर जोर से ठहाका लगाकर हस पडते।

श्लोक क्या है ?

मित्र परिपद् की स्मारिका के मेरे पूर्वोक्त लेख मे एक यह सस्मरण भी है कि मुनि नथमलजी जव पहले-पहल अग्रणी रूप मे विहरणकर वापस आचार्यश्री के पास आए तव युवकत्व और नये दायित्व की लालिमा उनकी आकृति पर छाई हुई थी। मैंने उसी स्थिति को व्यक्त करने वाले एक सस्कृत व्यग्यकार के श्लोक का पद्याश कहते हुए उनसे सुखपृच्छा की। युवाचार्य वनने से दो-चार दिन पूर्व उन्होने मुझे उस वात का स्मरण करवाया था और हम दोनो एक साथ हस पडे थे। उपर्युक्त सस्मरण को पढकर अनेक व्यक्तियो ने मुझसे पूछा था कि वह श्लोक क्या था ? परन्तु उसे वतलाने का अव कोई औचित्य नही था अत मैंने उन सवको टाल दिया।

एक दिन विहारीलालजी ने भी पूछ लिया कि स्मारिका के लेख मे आपने श्लोक का उल्लेख तो किया है पर न वह श्लोक दिया और न उसका भावार्थ ही। पढने वाले को तव कैसे पता लगे कि आपने क्या व्यग्य किया था और फिर आप लोग उसे याद करके क्यो हसे थे ?

मैंने कहा—वह पद्याश उसी समय के लिए उपयुक्त था। मैंने उसे अपने सहपाठी मुनि नथमलजी के लिए कहा था, वर्तमान के युवाचार्य महाप्रज्ञ के लिए नही।

मेरा वह वनावटी तर्क उनको समाहित नही कर पाया। उन्होने तत्काल कहा—तो फिर 'ऐरा गैरा नत्थू खैरा' वाला कथन आपने क्यो स्पप्ट कर दिया ? वह भी तो आज के महाप्रज्ञ पर लागू नही होता। साफ वात है आप दोनो मित्रो ने चुपके-चुपके ही लड्डू फोड लिये और खा लिये। हमे तो केवल दिखाकर चिढ़ाया ही, परोसा तो नही।

मेरे पास वस्तुत- उनके कथन का प्रतिवाद करने के लिए कोई स्पप्ट उत्तर नही था, फिर भी मैंने कहा—"आपका तो युवाचार्यश्री से भी गहरा सम्वन्ध है, फिर उस श्लोक के विपय मे उन्हे ही क्यो नही पूछ लेते ?"

बिहारीलालजी ने पलटते ही कहा—"बस-बस, रहने दीजिए। मैं आप दोनो के बीच मे शूर्पणखा बनना नही चाहता" और वह अनुत्तरित प्रश्न उनकी हसी के एक जोरदार ठहाके के साथ वही समाप्त हो गया।

नेता नगरी

एक बार बिहारीलालजी ने मुझसे कहा—"कलकत्ता की एक यात्रा और करिये।"

मैने कहा—"मै कलकत्ता दो बार जा आया। तीन चातुर्मास कर लिये। अब तीसरी यात्रा के लिए क्यो कह रहे है? अब तो युवावस्था के सिघाडो को ले जाने की बात करनी चाहिए।"

उन्होने कहा—"अभी तक तो आचार्यश्री भी स्वय को युवक मानते है। आप तो उनसे छह वर्ष छोटे है, तब फिर आपके वृद्ध होने का तो प्रश्न ही नही है। हम तो आपके कथन के अनुसार युवक सिघाडे की ही माग कर रहे है।"

मैंने वार्त्ता के रुख को बदलने की दृष्टि से कहा—"सतो की अपेक्षा सतियो के सिघाड़े अधिक है, अत उन्ही मे से किसी को चुनना अधिक उपयोगी होगा।"

बिहारीलालजी—यह तो ठीक ही है, हमारे लिए तो साधु और साध्वी—दोनो ही शिर के मोड है, पर आप अपनी बात के बीच मे साध्वियो की बात क्यो लाते है?

मैं—साधुओ की अपेक्षा साध्विया कलकत्ता के लिए अधिक उपयुक्त रहती हैं।

बिहारीलालजी—यह बात तो गले उतरने वाली नही कही आपने। साधुओ के पास आने-जाने तथा बातचीत करने की हम लोगो को जितनी स्वतंत्रता मिलती है, उतनी साध्वियो के पास नही। दायित्व बढ़ जाता है किन्तु अवसर घट जाते हैं। ऐसी स्थिति मे उनकी अधिक उपयुक्तता कैसे मानी जा सकती है?

मैं—आपने तो अपनी सुविधा और दायित्व की दृष्टि से ही सोचा है, पर अन्य दृष्टिकोण भी तो हो सकते है।

बिहारीलालजी—अन्य दृष्टिकोण कौन-सा हो सकता है, यह भी बतला दीजिये।

मै—कलकत्ता नेताओ की नगरी है। वहा आनुपातिक रूप से नेता कुछ अधिक ही है। उनसे सामजस्य बिठाकर चलने मे सतिया अधिक सफल रह सकती है, क्योकि वे नारी होने के कारण प्रकृति से कोमल और लचीली होती है, सतो को प्राय: उतना लचीला बनने मे कठिनाई महसूस होती है।

बिहारीलालजी—यह तो आपने बिलकुल नयी बात सामने रख दी। नेताओ को इस पर सोचना चाहिए।

मैं—आप भी तो उन्ही मे से एक हैं।

विहारीलालजी—ना वावा, ना। ऐसी गाली मत दीजिए। मै तो समाज का एक अदना-सा सेवक हू।

मैं—यह भी तो नेता का ही एक लक्षण है कि वह स्वय को मानता तो नेता है, पर कहता सेवक ही है।

विहारीलालजी—कही तो जीने की जगह दीजिए। चारो ओर से क्यो घेरते है। और उन्होने अपना स्वाभाविक ठहाका लगाकर बात की समाप्ति की घोषणा कर दी।

अणुव्रती 'अमन'

निष्ठाशील व्यक्तित्व

श्री गोपीनाथ 'अमन' से मेरा परिचय अणुव्रत आन्दोलन के सिलसिले मे हुआ। मैंने पाया कि वे एक मृदुस्वभावी, सरल एव नीतिनिष्ठ व्यक्ति है। किसी भी सस्था के लिए ऐसे व्यक्तियो का सहयोग बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है फिर आध्यात्मिक एव नैतिक विकास के लिए कार्य करने वाली सस्थाओ के लिए तो वह मणि-कचन सयोग जैसा ही कमनीय बन जाता है। अमनजी अणुव्रत आन्दोलन को राष्ट्र के लिए परम उपयोगी मानते थे। वे स्वय अणुव्रती बने और आन्दोलन के कार्य को आगे बढाने मे निरन्तर सचेष्ट रहे। अनेक वर्षो तक वे दिल्ली एव अखिल भारतीय अणुव्रत समिति के अध्यक्ष भी रहे।

मेरा सम्पर्क

दिल्ली से मेरा सम्पर्क स० २००६ के शेषकाल मे तब हुआ जब प्रथम बार आचार्यश्री तुलसी वहा पधारे। मै उस समय उनके साथ ही था। फिर तो ऐसा क्रम बना कि उसके बाद के दस वर्षो मे मुझे दिल्ली मे छ चातुर्मास करने का अवसर मिला। उनमे भी पिछले चार चातुर्मास तो ऐसे थे, जिनके शेष काल भी मैने प्राय दिल्ली मे ही व्यतीत किए। अणुव्रत आन्दोलन के लिए वह समय जन-सम्पर्क की शुद्ध नीव भरने का था, अत बहुत उपयोगी एव महत्त्वपूर्ण था। उस समय जन-साधारण से लेकर राजनेताओ तक न केवल सम्पर्क ही साधा गया, अपितु उसमे गाभीर्यापादन भी किया गया। पत्रकारो एव साहित्यकारो के सम्पर्क को भी उच्च प्राथमिकता दी गई।

ऐसे ही अवसर पर अमनजी से प्रथम परिचय हुआ। फिर तो अणुव्रत आन्दोलन के कार्यक्षेत्र मे एक-दूसरे से मिलने और विचार-विमर्श करने के प्रसग बार बार आते रहे। परिणामत वह परिचय सामीप्य मे बदल गया और व्यक्तिगत सबधो गहराई आती गई। उस गहराई मे एक कारण हम दोनो का कविता-प्रेम भी

था। अमनजी उर्दू मे शायरी किया करते थे तो मैं हिन्दी कविताए लिखा करता था। अनेक बार हमने एक-दूसरे की कविताओ को सुना-समझा था।

कटोरियां बदली

एक बार मैंने उनके निवास स्थान पर रात्रि निवास किया। वहा स्थानीय अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो से सम्पर्क करने का अवसर तो मिला ही, स्वय अमनजी के साथ भी अणुव्रत अन्दोलन की तत्कालीन आवश्यकताओ पर खुलकर विचार करने का अवसर मिला। उसी सिलसिले मे मानवीय वृत्तियो की विचित्रता के विषय मे उन्होंने मुझे एक घटना सुनाई, वह आज भी मुझे याद है।

उन्होने कहा—"अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध चलाए जा रहे आन्दोलन के सिलसिले मे हम लोग काग्रेस की ओर से जेल गए। वहा उस समय भोजन की व्यवस्था बहुत ही बुरी थी। रद्दी आटे से बनी अधपकी चपातिया और पानी जैसा साग दिया जाता था। साग की कटोरी मे आलू का तो कोई एकाध टुकडा ही हुआ करता था। उससे अधिक टुकडे किसी कटोरी मे हो तो उसे किसी भूल का परिणाम ही समझना चाहिए। एक दिन सभी लोग भोजन करने के लिए बैठे। वहा एक व्यक्ति की कटोरी मे आलू का केवल एक टुकडा ही था जबकि उसके पास वाले व्यक्ति की कटोरी मे तीन टुकडे थे। व्यक्ति भोजन प्रारम्भ करने से पूर्व पानी लेने गया तब तक प्रथम व्यक्ति को अवसर मिल गया। उसने चुपके से अपनी थाली की कटोरी उसकी थाली मे रख दी और उस थाली की अपनी थाली मे रख ली।"

घटना का उपसंहार करते हुए अमनजी ने कहा—"मुनि जी! यह है हमारी वृत्तियो की दशा। जिसकी वृत्ति बुरी होती है, वह छोटी-बड़ी वस्तु नही देखता। उस समय उतना ही अवसर था, अत उस पर हाथ साफ किया। वैसे व्यक्ति सत्ता पर आने के पश्चात् लाखो पर हाथ मारते है।"

तकुओं का उपयोग

अहिंसा विषयक वार्तालाप के एक प्रसग मे अमनजी ने मुझे एक घटना सुनाई। उन्होने कहा—"उस वर्ष काग्रेस का अधिवेशन बगाल मे था। सदस्यो मे किसी बात को लेकर सिद्धान्त-भेद उभर आया। तत्काल परस्पर गरमागरम बहस होने लगी। कुछ ही मिनटो मे वह बहस तकरार मे बदल गई। तब खीचातानी प्रारम्भ हो गई। अगले ही क्षण उस स्थिति ने मारपीट का रूप ले लिया। बहुत-से व्यक्तियो के पास सूत कातने के लिए लाये हुए तकुए और चरखे थे। उत्तेजना के क्षणो मे अहिंसा के प्रतीक उन तकुओ और चरखो का उपयोग एक-दूसरे को चोट पहुचाने में हुआ। अमनजी का निष्कर्ष था कि साधन-शुद्धि पर बल देना बहुत उत्तम है,

परन्तु दारमदार तो आखिर मनुष्य की अपनी वृत्तियो पर ही रहता है। वे बुरी हो तो शुद्ध से शुद्ध साधन को भी अशुद्धता के कीचड मे सनते देर नही लगती। मै उनके उस निष्कर्ष से सहमत था।

समय पर आगमन

अमनजी एक भद्र एव सरल परिणामी व्यक्ति थे। अपनी त्रुटि ध्यान मे आते ही वे उसमे सुधार करने को उद्यत रहते थे। अहकारी व्यक्तियो की तरह अपनी गलत बात को भी आग्रहवश सिद्ध करते जाने का स्वभाव उनमे नही था। बात उस समय की है, जब दिल्ली एक राज्य था। अमनजी उस समय वहा वित्त मत्री थे। एक दिन अणुव्रत समिति की ओर से मध्याह्न मे दो बजे पुरानी दिल्ली के व्यापारियो का एक सम्मेलन रखा गया। अमनजी भी उसमे भाग लेने वाले थे। यथासमय काफी व्यापारी वहा पहुच गए, पर अमनजी नही पहुचे। खाली बैठे-बैठे आगुतको को समय का अपव्यय अखरे नही, इसलिए मैने उनसे बातचीत प्रारम्भ कर दी। उसी सिलसिले मे पहले-पहल मैने उन्हे जैन सतो के आचार-व्यवहार की अवगति दी और फिर सतो द्वारा निर्मित कलात्मक वस्तुए दिखलाई।

मेरे सामने ही दीवार घडी लगी हुई थी अत समय का मुझे पता तो था परन्तु उपचारवशात् मैने पूछ लिया कि समय क्या हुआ है? एक भाई ने कहा—ढाई बजे है। मुझसे काफी अच्छे परिचित एक अन्य व्यवसायी मेरे पार्श्व मे ही बैठे थे। वे जरा मुस्कराए और व्यग्य का तीक्ष्ण प्रहार करते हुए बोले—नही महाराज! ये भाई आपको गलत बतला रहे है। अभी दो नही बजे है। अमनजी के आगमन से पूर्व वे बजने वाले भी नही है। वहा बैठे सभी व्यक्ति ठहाका मारकर हस पडे। हसी तो मुझे भी आई, पर वह समय उल्लघन की लज्जा के नीचे दबकर रह गई। मैने तत्काल कार्यक्रम प्रारम्भ करने को कह दिया। मगलाचरण ही हुआ था कि अमनजी भी पहुच गए।

एक वक्ता ने अपने भाषण मे उक्त व्यग्य का उल्लेख कर दिया। अमनजी ने तब अपने भाषण मे बडी भाव-विह्वल भाषा मे जनता से क्षमा-याचना की। कार्यक्रम के पश्चात् वे मेरे पास आए और अपने विलम्ब के लिए अनुताप करते हुए क्षमा मागने लगे। मैंने देखा कि उसके पश्चात् वे प्राय प्रत्येक कार्यक्रम मे यथासमय पहुच जाते थे।

गये तब, आये तब

अमनजी उस समय दिल्ली अणुव्रत समिति के अध्यक्ष थे। आचार्यश्री के सान्निध्य मे होने वाले अणुव्रत अधिवेशन मे सम्मिलित होने के लिए विचार-विमर्श हेतु समिति की मीटिग बुलाई गई। अनेक व्यक्ति जाने को उद्यत थे। उन सबका

विचार था कि अमनजी को साथ चलना चाहिए, परन्तु वे तैयार नही हो रहे थे। लोगो ने मुझे कहा कि आप थोडा-सा प्रेरित कर दें तो वे तैयार हो जाएगे। मीटिंग से उठकर जब वे मेरे पास आए तो मैंने पूछ लिया—"कौन-कौन जा रहे हैं?" उन्होने अन्यो के तो नाम वतलाए पर अपना नाम नही लिया। मैंने कहा—"आप तो यहा की समिति के अध्यक्ष है। आपके नेतृत्व मे अधिवेशन मे भाग लेना लोगो को अधिक प्रेरक वनता हो तो आपको सोचना ही चाहिए।"

अमनजी ने कहा—"प्रत्येक अधिवेशन मे भाग लेने की मेरी स्वय की इच्छा होती है, परन्तु मै इन दिनो कुछ निराश हो गया हूं, अत इस वार माफी चाहूगा।"

मैंने साश्चर्य उनकी ओर देखा तथा पूछा—"आप यहा के कार्यकर्ताओ से निराश हो गए है या अणुव्रत आन्दोलन से?"

वे बोले—"नही-नही, यहा के कार्यकर्ताओ तथा आन्दोलन से मुझे कोई निराशा नही है। मेरी निराशा का कारण तो समाज की स्थितिया है।"

मैंने कहा—"तव तो आपका अधिवेशन मे सम्मिलित होना अत्यन्त आवश्यक है। समाज की स्थितियो के सुधार के लिए ही तो अणुव्रत आन्दोलन का प्रयास है। आचार्यश्री के पास जाने पर अवश्य ही आप आशा से भर उठेंगे।" मेरे उस कथन से उन्होने अधिवेशन मे सम्मिलित होने का निर्णय कर लिया।

अधिवेशन से लौटकर जब वे दिल्ली आए तो आशा से भरे हुए थे। मैंने जव पूछा कि आपकी निराशा के क्या हालचाल है? तो वे हस पडे। उन्होने मुझे वतलाया—"अभी कुछ दिन पूर्व दिल्ली नगर निगम के चुनाव थे। मेरी पार्टी वालो ने मेरे ही मोहल्ले मे वोट खरीदे। यह कार्य मेरे से छिपाकर किया गया। मुझे ऐसी प्रच्छन्न अनैतिकताओ से अत्यन्त ग्लानि है। मैंने उस दिन आपसे जो निराशा की वात कही थी उसके मूल मे समाज के नेताओ की यही अनैतिक स्थिति रही थी। आपके कथन को टालना नही चाहता था, अत अधिवेशन मे मै गया तो सही परन्तु उक्त निराशा की भावना से घिरा हुआ ही गया था।" अमनजी ने वतलाया कि वार्तालाप के सिलसिले मे आचार्यश्री के सम्मुख भी उन्होने अपनी मानसिक दुविधा रखी। उन्होने आचार्यश्री से कहा—"जब देश मे इस प्रकार की अनैतिकता व्याप्त हो, तव कुछ एक व्यक्तियो का अणुव्रती बनना कोई प्रभावशाली नही हो सकता। मुझे अपनी प्रभावहीनता पर सर्वाधिक दुख है कि मेरी पार्टी वालो पर भी मेरा कोई प्रभाव नही है। अधिक व्यक्तियो द्वारा की जाने वाली भ्रष्टाचारिता के साथ जो सम्मिलित होना नही चाहता, उसे समाज के अन्य व्यक्तियो से अलग-थलग रहना पडता है। उसका जीवन जाति वहिष्कृत जैसा वन जाता है। मेरे साथी अव यह जान गए कि मै उनके अनैतिक कार्यों मे सहयोग नही दूगा तो वे उन विषयो मे मुझसे विमर्श किए विना ही अपना निर्णय कर लेते है। अव आप ही

बतलाइए कि ऐसी स्थिति मे मेरे जैसे प्रभावहीन व्यक्ति को अणुव्रत मे रहना चाहिए या नही ?

अमनजी ने कहा—"मेरी बात सुनकर आचार्यश्री मुस्कराए। उन्होने मेरी ओर देखते हुए कहा—आप स्थिति के इस पहलू को भी देखे कि वे अनेक व्यक्ति मिलकर भी एक व्यक्ति की सचाई का सामना नही कर सके। तभी तो उन्हे छिपकर कार्य करना पडा। बस, आचार्यश्री के इस कथन ने ही मेरी सारी निराशाओ को धो डाला। मै निराशाओ से घिरा हुआ गया था, परन्तु आशाओ से भरा हुआ वापस आया हूं।"

अमनजी के उस समय के उत्साह को देखकर मै गद्गद हो गया। वह कृत्रिम नही, एक सहज और उल्लास भरा उत्साह था। उसी के आधार पर वे आजीवन अणुव्रतो के लिए अपने समय और शक्ति का महत्त्वपूर्ण सहयोग देते थे।

लगभग बारह वर्ष पूर्व सन् १९८० के ग्रीष्मकाल मे ग्वालियर चातुर्मास के लिए जाते समय मै कुछ दिनो के लिए दिल्ली मे रुका था। अमनजी को जब मेरे आगमन का पता चला तो काफी वृद्ध और अशक्त होने पर भी वे अणुव्रत भवन मे रखे कार्यक्रम मे सम्मिलित हुए। उसके बाद भी लगभग घटा भर बातचीत के लिए वहा रुके। वृद्ध जन के उस सहज सौहार्द ने मुझे अदर तक भिगो दिया। यही मेरा उनसे अतिम मिलन था। ।। □

म[illegible]

जन्म — वि[illegible] ७७, आषाढ कृष्णा [illegible]

निवास-स्थान — [illegible]स्थान)

दीक्षा — वि[illegible] स० [illegible]८८, कार्तिक शुक्ला [illegible] सरदारशहर

अग्रगण्य — वि० स० २०००, आषाढ, भीनासर (राजस्थान)

साहित्य-परामर्शक — वि० स० २०१८, फाल्गुन कृष्णा दशमी, गगाशहर (राजस्थान)

निकाय-प्रमुख — वि० स० २०३८, माघ शुक्ला सप्तमी, गगाशहर (राजस्थान)

सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि अनेक भाषाओ के ज्ञाता, सस्कृत के प्रतिभासपन्न आशुकवि

प्रमुख कृतिया — मथन, आवर्त, उणियारो (राजस्थानी काव्य), जागण रो हेलो (राजस्थानी गीत), उस पार, मन के दीप, आखो ने कहा, श्रमण सस्कृति के अचल मे, तेरापथ का इतिहास, अणुव्रत विचार दर्शन, मानवता का मार्ग, नीव के पत्थर, आचार्यश्री कालूगणी एक परिचय, आचार्य तुलसी : जीवन दर्शन, तेरापथ, प्रकाश के पदचिह्न, तेरापथ के मतव्य और वर्तमान लोक चिन्तन, भारतीय भाषाओ को जैन साहित्यकारो की देन आदि ।